स्वर्ग और पृथ्वी

अन्य प्रकाशित रचनाएँ

कहानी—

मुर्दों का गाँव

आस्कर वाइल्ड की कहानियाँ

(अनुवादित)

उपन्यास—

गुनाहों का देवता

आलोचना—

प्रगतिवादः एक समीक्षा

१४ भावात्मक कहानियाँ

स्वर्ग और पृथ्वी

धर्मवीर भारती

सम्पादक

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

(प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय)

भाषा भवन, काशी

प्रकाशक : "भाषा-भवन", नन्दनसाहु, बनारस ।
मुद्रक : अच्युत मुद्रणालय, ललिताघाट, बनारस ।
प्रथम संस्करण : २००० प्रतियाँ : सं० २००६
मूल्य २॥)

क
हा
नि
याँ
०

—:०:—

शुभास्ते पन्थानः

कहानी के रूप में भारती ने जीवन में पहली बार अपना सजग चरण अस्तित्व की अटपटी भूमि पर रक्खा। मेरी साध है कि दूसरा चरण और चरण प्रति चरण उसका उसी लक्ष्य की ज्वाला और मेघमाला के सँवारने में जा सके तो जावे। कहानी में आकलन कुछ अधिक सतर्कता, श्रमशीलता और समर्पण की जागरूकता माँग रहा है, किन्तु समय कह रहा है कि राहगीर रेखाओं से काफी आगे आ गया है।

चारों खूँट का भूगोल और चारों खूँट की कल्पना दोनों उसके लिए सुलभ हैं। अतः सोने के सपने और जागने के सपने में चाहे जिस दिशा, चाहे जिस समय और चाहे जिस वस्तु का नाम पुकारने दिया जाय। एक चीज सदैव मानो। वह अपने अन्तर की आग की अवतारणाओं का पूजक है। उसका दुख और सुख उसके बाहर नहीं है।

साथ ही अपने अनन्त उल्लासों और अपनी भारी से भारी उसासों में भी वह अपने अभिमत के सम्मुख नन्हें बच्चे जैसा निर्मल, उद्दंड किन्तु जागरूक है।

भारती की अँगुलियों ने एक जीवन के अनेक टुकड़े कर जहाँ जहाँ जिस जिस रूप में सँवारने का उपक्रम साधा है, सब बड़े प्यार से पढ़ा जाता है। खूब दूर तक भारती की दृष्टि जीवन के परमत्व को छू गई है।

समय की लाँबी दूरी है और तारुण्य के अरमानों की चहल-पहल। भारती को सिद्ध करना है कि मेरी पंक्तियाँ मेरा पक्षपात नहीं हैं। घास की कलम से नहीं, साँस की कलम से।

माखनलाल चतुर्वेदी

परिचय

परिचय के नाम पर, न मैं सृष्टि के प्रथम जागरण से आज तक का कथा-साहित्य का इतिहास आपके सामने रखूँगा और न उसके विषय में कल से प्रलय के अन्तिम चुम्बन तक की भविष्यवाणी ही करूँगा। मेरा विश्वास है कि इस युग का पाठक इन दोनों से परिचित है। मैं अपनी बात केवल इन कहानियों तथा इनके कथाकार तक ही सीमित रखूँगा।

सफेद कुर्त्ता पैजामा, काली जवाहर जैकेट, शैतान आँखों पर लापरवाही से लगा रिमलेस चश्मा, एक हाथ में अकड़ से पकड़ा गया पोर्टमैन्टू तथा दूसरे में दो चार पुस्तकें। दुबले-पतले भारती के अंग अंग में कला है। बातों में कला की रसमसाहट, नजरों में कला की शबनमी रंगीनी, चाल-ढाल में कला की शोख मधुमासी नजाकत और घनी काली भौहों के बीच मस्तक पर पड़ी रेखाओं में कला की विराट जिम्मेदारी। हरसिंगार सा सुकुमार, फौलाद सा कठोर। एक अजब आकर्षण है उसके व्यक्तित्व में। उससे बातें करते समय आपको लगेगा कि आप किसी दूसरे से नहीं, किसी निकटतम से नहीं, वरन् स्वयं अपने आप से बातें कर रहे हैं। और अपनत्व के इसी जादू के कारण उससे बातें करनेवाला थोड़ी ही देर में उसका हो जाता है। दौलतवाले उसके लिए दौलत नहीं, खून बहाने को तैयार हो जाते हैं, खानाबदोशों की तो बात जाने दीजिए, भारती उनकी तो जाति का ही है।

आजकल भारती प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में रिसर्च कर रहा है। देशीय ही नहीं, अनेक विदेशीय साहित्यों तथा संस्कृतियों का भी उसे पर्याप्त ज्ञान है। अध्ययन से ऊबने के बाद वह लिखता है और लिखने से ऊब जाने के उपरान्त पढ़ता है। इन्हीं दो के छायातप में, मंचों की कलाबाजियो, दलबन्दियों तथा सभा सोसायटियों की निरर्थक चिल्ल-पुकार से दूर उसका विकास हो रहा है। वह एक वनफूल की भाँति खिल रहा है।

उसने एक सच्चे कलाकार का महाव्रत लिया है और मेरी दृष्टि में सच्ची कला की उपासना में लीन है। उपासना में लीन होने के साथ साथ वह कला के प्रति, अपनी ईमानदारी के प्रति जागरूक भी है जो आज-कल के साहित्यकारों में कम देखने में आती है। उसे कलाकार की स्वतन्त्रता का पूर्ण ध्यान है। बन्धन बन्धन है, चाहे वह पुरातन का हो चाहे नवीन का। पुराने बन्धनों को तोड़ कर, आज के कलाकार को विशेष राज-नीतिक विचारधाराओं में बाँधनेवालों के खिलाफ भी वह उतनी ही शक्ति और विश्वास के साथ जिहाद करने को तैयार है जितनी अचलता और कठोरता से उसने गुलामी के अंध कूपों में फुफकारते हुए कुरीतियों एवं गुनाहों के जहरीले अजदहों के प्रति किया है।

उसके ही शब्दों में—"हम संक्रान्ति काल के कलाकार स्तब्ध हैं। एक ओर अतीत अपने बूढ़े हाथों से हमारी कलम पकड़ता है, दूसरी ओर अन्ध-कार में से अनोखी अजनबी दुनिया की मीठी आवाजें लहराती हुई आ रही हैं। एक कहता है, भविष्य केवल झूठी कल्पना है: दूसरा कहता है, अतीत एक गुजरी हुई शर्मनाक कहानी है जिसे आदमी भूल जाय तो अच्छा है।

एक ओर रूढ़िवाद है जो प्रगति से घबराता है, दूसरी ओर संकीर्ण प्रगतिवाद है जो प्रगति के नाम पर हमें नई रूढ़ियों में जकड़ना चाहता है। दोनों गलती के दो ध्रुवों पर हैं।" लेकिन फिर भी-"अभी आदमी की निगाहों में तेजी है, कदमों में हरकत है, नसों में जिन्दगी है और क्षितिज

पर एक सितारा है जो बराबर कह रहा है, अभी स्वर्ण युग आने को है।

इसी के भरोसे हम आगे बढ़ते हैं। मानव हमारा देवता है, हमारा उपास्य है, हमारा ईश्वर है। मार्क्स हों या ईसा, लेनिन हों या गांधी, सभी मानवता की जयमाल में गुँथनेवाले गुलाब हैं और हम हर एक का तबस्सुम, हर एक का सौरभ स्वीकार करने के पक्ष में हैं, मगर किसी की सीमा में बँधना नापसन्द करते हैं। मार्क्स हों या ईसा, दोनों से बड़ा मानव है; उपनिषद् हों या कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो, मानव जीवन का सत्य दोनों से बड़ा है।

हम उस महान् संस्कृति के उत्तराधिकारी हैं, जिसने महान् आध्यात्मिक सत्यों की खोज की थी, जिसने मानव की आत्मा में स्थायी सौन्दर्य के सितारे खिलाने की योजना बनाई थी, जिसने युगों के मन्थन के बाद अध्यात्म का अमृत खोज निकाला था।"

और आज इस यन्त्र, अणुबम और विज्ञान के युग में जब मानवता पतन की ओर एक टूटते सितारे की भाँति अग्रसर हो रही है—

"मार्क्सवादी पद्धति से वाह्य संसार बदल देने के बाद भी आदमी के मन की दुनिया बदलने के लिए हमें कृष्ण की वंशी और कामायनी के मनु का आह्वान करना होगा।"

इन आँधी और तूफानो के बीच आज के कलाकारों को सत्य, शिव, सुन्दर की मशाल दृढ़ता से पकड़नी और ऊँची रखनी है। हो सकता है कि हमारे सामने भ्रम का कोहरा हो, विरोध के काँटे हों, असुविधाएँ हो, सम्भव है सुकरात की तरह हमें जहर का प्याला पीना पड़े, पर हम मरेंगे नहीं। हम उस संस्कृति के राजकुमार हैं जहाँ वरदानी शिव ने जहर पीकर अमरता जीती थी।

"हमें मानवता से प्यार है, हमारी निगाहें क्षितिजों की सीमा के परे देखती हैं, हमारी साँसों ने आकाश से तूफान छीन लिए हैं, हमारी नसों में जिन्दे सितारे काँप रहे हैं और बिना डरे हुए सत्य का सम्बल लेकर

हमें अकेले बढ़ना है—नए तबस्सुम की ओर, जहाँ आदमी की आत्मा पर सत्य का संगीत जगमगाता है।"

और इस अग्नि-फूलों की राह पर, आज का कलाकार आगे बढ़ेगा चाहे कोई उसका साथ दे या न दे।

"यदि तोर डाक शुने केउ न आसे, तबे तूमि एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे!"

यह तो हुई कथाकार भारती की बात। जहाँ तक उसकी कहानियों का प्रश्न है, भाषा की रंगमयता और कल्पना की अलमस्त उड़ान के कारण ये कहानियाँ किसी दूसरे लोक की लगेंगी। किन्तु थोड़ी देर बाद खुमारी ढलते वक्त आपके ही प्राणों से आवाज आएगी, नहीं! यह इसी लोक की बात है। ये इन्द्रधनुष सी दूर होते हुए भी शबनम सी पास हैं। धरती के ही बादलों पर भारती की कला ने इन्द्रधनुष सजाए हैं। ये इन्द्रधनुष आकाश के केवल इसलिए लगते हैं कि इन्होने आकाश को भी जगमगा दिया है। हर कहानी में आपको नारी और पुरुष का वही चिरन्तन संघर्ष, मानव-हृदय की वे ही दुर्बलताएँ, वे ही समस्याएँ, वे ही कुरीतियाँ, आदिकाल से आज तक समय समय पर उभरनेवाले वे ही प्रश्नचिन्ह मिलेंगे जिनका कथाकार ने अपने ढंग से विश्लेषण किया है। आपका कहानी पढ़ने के पूर्व भारती से मतभेद हो सकता है, लेकिन सच्ची कहानी वही है जिसकी समाप्ति पर आप वही सोचिए जो लेखक सोचता है, वही कहिए जो वह कहता है। विश्वास करिए, भारती की कहानियाँ पढ़ने के उपरान्त आपको कथाकार की आवाज में अपनी प्रतिध्वनि मिलेगी। और यही है इन कथाओं और इनके कथाकार की सबसे बड़ी सफलता। रूप, यौवन, प्रेम, नारी, निर्वाण, देश, स्वर्ग, ईश्वर, समाज सभी के विषय में उसने अपना दृष्टिकोण आपके सामने रखा

है और इस कुशलता से रखा है कि आप उसे अपनाने से इनकार नहीं कर सकते।

रस, टेकनीक और भाषा तीनों पर भारती का समान अधिकार है। भाव और कल्पना नीर-क्षीर की तरह मिली हुई हैं। कहीं कहीं कवि का भावावेश उमड़ आया है पर उसने टेकनीक का बाँध तोड़ा नहीं है, उसे पहले से अधिक मजबूत कर दिया है। भावना की चोट, मनोविज्ञान की थपकियाँ और कल्पना की रजत रेशमी डोरियों के सहारे पाठक सत्य के लोक में पहुँच जाता है।

कथानक, कथोपकथन, चरित्र-चित्रण, वातावरण-निर्माण, चित्र-लेखन, सभी दृष्टियों से ये कहानियाँ पूर्ण हैं। आदि से अन्त तक क्षण क्षण बढ़नेवाला कुतूहल हर कथा में विद्यमान है। बन्धन से भारती को सदा घृणा रही है। भाषा के क्षेत्र में भी उसने कभी कोई बन्धन स्वीकार नहीं किया है। अगर किसी भाव के स्पष्टीकरण के लिए हिन्दी के शब्द उपयुक्त नहीं हैं तो उसने उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है।

कथाकार के शब्दों का इन्द्रजाल और पच्चीकारी देखते हुए पाठक को भ्रम हो सकता है कि उसकी शैली कृत्रिम है, किन्तु यह कृत्रिम शैली सजीव भी प्रतीत होगी। आदि से अन्त तक रंगिमा के अन्तर्लोक में अनुभूति और सहानुभूति अँगड़ाई लेती हैं। रंगीन फूलों से लदी फुल-वारी में छिपकर बोलती हुई कोयल को जैसे आप देख नहीं पाते वरन् उसकी रसीली वाणी सुनते हैं, ठीक उसी तरह इन गुलाबी पँखुरियो के पीछे छिपी कोकिला की भी आप वाणी ही सुनेंगे, उसे देखेंगे नहीं। भारती की कहानियों का शब्द शब्द एक अजब नशीली बेहोशी में डूबा होते हुए भी बोलता है। उसने जीवन का चित्रांकन किया है; फोटो नहीं खींचा है। फोटो में आवाज नहीं होती, चित्र बोलता है, बातें करता है।

भारती ने कहानियों में उपदेश नहीं, सन्देश दिया है, और वह भी खुल

कर नहीं, चोरी चोरी। कथा की समाप्ति पर यह सन्देश आप से आप पाठक की आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है।

भारती और उसकी कहानियों के विषय में यह मेरा निष्पक्ष स्वतन्त्र मत है। मैंने अपनी बातों की पुष्टि के लिए इन कथाओं में से उदाहरण जानबूझ कर नहीं दिए हैं। मेरा विश्वास है कि आप इन कथाओं को ध्यान से पढ़ेंगे।

प्रयाग,
विजयदशमी, १ अक्टूबर १९४९ } **गिरिधर गोपाल**

---

* ऊपर मैं ने जो उद्धरण दिए हैं, वे श्री धर्मवीर भारती की नवीन पुस्तक, "प्रगतिवाद: एक समीक्षा" में से लिए गए हैं।

अपनी बात

ये कहानियाँ लगभग तीन वर्ष पूर्व ही आपके पास आ जानी चाहिए थीं, किन्तु दो वर्ष तक मेरे आलस्य के कारण और उसके बाद मेरे प्रकाशक मित्र केडियाजी की कुछ गम्भीर कठिनाइयों से यह संग्रह पड़ा रह गया।

मेरी यह इच्छा अवश्य थी और दादा (पं० माखनलाल चतुर्वेदी) का यह आश्वासन भी था कि इसका परिचय वे ही लिखेंगे, पर उनकी बीमारी के कारण यह भार अपने कवि-मित्र गिरिधरजी को सौंपना पड़ा। साहित्य-पथ की दिशाओं में यद्यपि हम दोनों में दो ध्रुवों का अन्तर है, किन्तु फिर भी न जाने क्यों वे मेरे अत्यन्त निकट हैं। हाँ, अपने चरम कवि-स्वभाव के बावजूद उन्होंने यह काम पूरा कर दिया, यह मेरा सौभाग्य है।

इसके मुखपृष्ठ के लिए एक बने-बनाए चित्र को अस्वीकृत कर, मेरे प्रतिभाशाली चित्रकार मित्र जगदीश ने रातोंरात दूसरा चित्र बना डाला, जिसमें जितनी कला है, उतना ही स्नेह।

मुझे सन्तोष है कि इस कृति ने प्रकाशन के पहले ही इतना स्नेह पाया है; और उसके लिए तो क्या कहूँ जिसके प्यार और रूप का जादू इन कहानियों की साँस साँस में बसा हुआ है।

गांधी-जयन्ती
दो अक्टूबर' ४९

—भारती

समर्पण

तुम्हें समर्पण में क्या लिखूँ ?

अपने भाग्य-पटल की तरह यह पृष्ठ भी खाली छोड़ दिया है,

जो चाहना, स्वयं लिख लेना ।

नाग और किरण

वह विस्मित होकर रुक गया। नील जलपटल की पारदर्शक दीवारों से निर्मित शयन-कक्ष-द्वार पर झूलती हुई फुहारों की झालरें और उन पर रंगीन इन्द्रधनुष की धारियाँ। सीपी की रंग विरंगी आभावाली कोमल शैय्या और उस पर आसीन मुक्ता सी स्वच्छ और प्रकाशमयी वरुणबालिका—उसका गीत सहसा रुक गया और वह असीम विस्मय से निर्निमेष पलकों से देखने लगा सौन्दर्य की वह नवनीत ज्योति............

वरुणा ने अपनी अलसाई पलकें उठाईं। आगन्तुक की ओर एक कुतूहल की दृष्टि डालकर वह सजग हो गई। बिजली की कोर वाले सुरमयी बादल के आँचल को उसने लापरवाही से कंधों पर डाल लिया और जूड़े से गिरे हुए जलफूलों पर वह कोहनी टेक कर बैठ गई।

"उर्मि—क्या यही तुम्हारी नवीन खोज है?" आगन्तुक की

ओर इंगित करते हुए वरुणा बोली "हाँ रानी"—उसके साथ की मत्स्यबाला लहरों सी लहरा कर बोली—

"कल संध्या को अन्तिम किरणें बटोरने हम लोग स्थल तट पर गई थीं रानी? किन्तु सहसा जल वीचियों के नृत्य के साथ पवन के झकोरों में कुछ स्वर लहरियाँ नृत्य कर उठीं–उनमें कुछ अभिनव आकर्षण था। कुछ विचित्र टीस थी। हम लोग किरणें बटोरना भूल गईं और उन्हीं स्वरों में बँध कर खिची चली गईं एक सैकत राशि के पास जहाँ यह वंशी बजा रहा था और निर्निमेष पलकों से देख रहा था अस्तप्राय सूर्य की ओर—हम-लोग मंत्रमुग्ध सी खड़ी रहीं—स्तम्भित, मौन, निश्चल—हमारी चेतनाएँ जैसे इसके स्वरों के साथ बिखरती जा रही थीं पवन के झकोरों में—इसने हमको बाँध लिया था अपने स्वरों में······ वंशी का स्वर गूँजता रहा—गूँजता रहा—गूँजता रहा—जब हमें चेतना हुई तो देखा गायक अचेत था। हमें वह बन्दी बना चुका था। और हम उसे बन्दी बना लाईं। रानी की सखियों पर भ्रम और संशयहीनता का आवरण डालने के अपराध में इसे दंड मिलना चाहिए?"

"अच्छा तुम जाओ। मैं बाद में इसका निर्णय करूँगी।"

आगन्तुक मौन था। उसे यह सभी कार्य मायाजाल प्रतीत हो रहा था। दिवस के घनघोर श्रम के बाद बैठा था सागर तट पर अपनी वंशी लेकर। अपने थके मन से विषाद का भार हलका करने और पहली ही फूँक के बाद उसने देखीं चारों ओर नाचती हुई मत्स्यबालिकाएँ। उनके शरीर से सौरभ की इतनी तीखी लहरें उड़ रही थीं कि वह उनकी मादकता में बेसुध हो गया। और नयन खुलने पर अपने को पाया एक विचित्र प्रासाद में जो नील जलपटल से बना था। जिसके अन्दर परियाँ संगीत-

भरी गति से घूम रही थीं—उसके पश्चात् ही अपने को पाया रानी के सम्मुख। विस्मय ने उसके शब्दों की शक्ति हर ली थी और वह अथक आश्चर्य से देख रहा था ये जादू के खेल—

"लो इस पर आसोन हो अतिथि!"। माया देश की रानी ने स्वयम् उठ कर कोमल मृणाल-तन्तुओं से बुना हुआ एक आसन डाल दिया—वह उस पर बैठ गया।

"अतिथि!", पंचम स्वर में वरुणा बोली—"सुनती हूँ इन नील लहरों के वितान के पार कोई दूसरा लोक है। जहाँ उन्मुक्त आकाश है, जहाँ स्वच्छन्द पवन के झकोरे कलियों को अनजाने में चूम लेते हैं। जहाँ सूर्य की किरणें बादलों को सजल रंगों में रँग जाती हैं। तुम तो उसी लोक से आए हो न?"

"हाँ रानी!" शान्त स्वर में आगन्तुक ने उत्तर दिया।

"अतिथि! मेरी कितनी इच्छा होती है कि मैं भी अपनी सखियों के साथ उस विशाल सिकता-राशि पर किरणें चुनने जाऊँ। किन्तु मुझ पर रानीत्व का अभिशाप है न। चिरकाल से इन जलप्राचीरों में सीमित रहने से अब मैं लहरों की तीव्रता सहने में असमर्थ हूँ अतिथि! फिर भी तुम्हें देख कर ही उस लोक के वैभव का अनुमान करूँगी। तुम मुझे वहाँ की कथाएँ सुनाओगे न?"

"अवश्य, पर रानी! तुम वहाँ की कथाओं को समझ न पाओगी। वहाँ की परम्पराएँ-वहाँ का वातावरण वहाँ के निवासी यहाँ से भिन्न हैं—"

"तुम यहाँ भी उस वातावरण का निर्माण करो अतिथि! -मेरी उत्कट इच्छा है उसे समझने की। मैं यहाँ की नित्यता से अब ऊब चुकी हूँ। मुझे कुछ नवीन चाहिए—कुछ जिसमें परिवर्तन की गति मिल सके—जिसकी ओट से जीवन का

स्पन्दन झाँक कर विहँस पड़े—तुम इसमें मुझे सहयोग दो अतिथि ! यह वरुण-लोक की रानी की आज्ञा नहीं प्रार्थना है"—

"मुझे स्वीकार है रानी !"

रानी के उदास नेत्रों में बिजली चमक उठी । और वह दोनों करों से जल-पराग उड़ाती हुई चल पड़ी सखियों को परिवर्तन का नवीन संदेश सुनाने—अतिथि ने अपनी वंशी उठाई और उसके गम्भीर उच्छ्वासों से वातावरण भर गया—

× × ×

वरुण-लोक में चंचल लहरों पर परिवर्तन लहराने लगा था । संध्या होते ही जब सागर-तल की श्यामता में तम का प्रगाढ़ आवरण छा जाता था और दीपित पंखोंवाली मत्स्यबालाएँ जल-प्रवाह में प्रकाश बिखेरने लगती थीं उसी समय साँझ की उदासी को चीर कर गूँज उठता था आगन्तुक की वंशी का जादू भरा स्वर–लहरें निश्चेष्ट और निष्पन्द हो जाती थीं । जल-फूल नयन मूँद कर डूब जाते थे आनन्द में और चारों ओर छा जाती थी एक रहस्यमयी तन्मयता—वरुणा रानी बेसुध होकर वंशी के स्वरों पर नाच उठती थी । कल्पना का साम्राज्य छा जाता था और उसमें बन जाता था रेशमी तानों का स्वर्ण वितान—

एक दिन जब नीलोत्पल अलसा कर अपनी पलकें मूँद रहे थे तब मृणालों में एक गम्भीर बंकिमता सिहर उठी थी । और जब जल तितलियाँ फीकी मुस्कानों से मुँदते फूलों से विदा माँग रहीं थीं तो अतिथि का मन न जाने कैसी उदासी से छा उठा । उसने अपनी वंशी एक ओर रख दी और करुण स्वर में गुनगुना उठा एक अपना देश-गीत । करुण स्वर नील जलप्राचीरों से टकरा कर टूटने लगे । धीरे धीरे सारा वातावरण एक अज्ञात वेदना से सिसकने लगा ।

व्याकुल रानी बोल उठी–रुँधे कंठ से–भर्राए स्वर में–"बस बन्द करो आगन्तुक। तुम्हारा यह गीत जैसे एक विचित्र घुटते हुए वातावरण की सृष्टि कर रहा है—मुझसे यह सहा नहीं जाता।"

आगन्तुक धीमे से एक उदास हँसी हँस कर बोला–"यह हमारे देश की कृषक बालाएँ गाती हैं रानी। जब बरसात की पहली घटाएँ नन्हीं बौछारों से उनके तन-मन को लहरा जाती हैं। और उस सिहरन को अनुभव करनेवाली उनके प्रिय की विशाल भुजाएँ उनसे दूर होती हैं तब उनके हृदय का प्रेम अवरुद्ध झरनों की भाँति कठोर शिलाओं से टकरा कर करुण स्वरों में आर्तनाद कर उठता है—और तब हरे भरे कुंजों में—पनघटों पर और लहराते खेतों में गूँज उठते हैं ये सिसकते गीत—"

"ठहरो अतिथि! तुम्हारे शब्द कभी कभी बहुत गूढ़ हो जाते हैं। बरसात की घटाएँ उमड़ती हैं, कृषक-बालाएँ गाती हैं; ठीक! पर उनके मन का प्रेम उमड़ता है—प्रेम क्या आगन्तुक?" नितान्त भोलेपन से वरुण-बालिका ने प्रश्न किया—

आगन्तुक के मस्तक पर चिन्ता की उलझन की दो चार रेखाएँ खिंच गईं—" प्रेम क्या? बड़ा ही गूढ़ प्रश्न है रानी! इसका उत्तर देना असम्भव है।"

"तब क्या मेरी जिज्ञासा अतृप्त ही रहेगी?" कुतूहल और नैराश्य भरे स्वरों में रानी ने पूछा—

"अच्छा रानी क्या तुमने भी किसी उदासी भरी बेला में अनुभव किया है अपने हृदय में गूँजता हुआ कोई दर्दीला स्वर—क्या तुम्हारे हृदय में कभी अनजाने अकारण ही कोई पीड़ा कसक उठी है और तुमने सुना किया है अपने मौन

हृदय के खंडहरों में किसी अव्यक्त अभिलाषा का करुण वंशी-रव ।"

"अतिथि! तुम बड़ी रहस्यमयी बातें बता रहे हो—मैं कुछ नहीं समझ पा रही हूँ।"

"हूँ! तुम समझ भी नहीं सकती रानी! हम मानवों में ही इस प्रेम की अभिलाषा का अनुभव करने के लिए जीवित स्पन्दित हृदय चाहिए रानी—यह प्रेम अलौकिक होते हुए भी वास करता है हम लौकिक नश्वर प्राणियों के ही हृदय में। यह तुम्हारे मायालोक से अपरिचित है—"

"तो क्या मैं प्रेम से अपरिचित ही रहूँगी ? मैं कितनी भाग्यहीन हूँ। इस असीम जलराशि में रह कर भी मैं अतृप्त तृष्णा से जलती ही रहूँगी—मैं कितनी दुःखी हूँ। अतिथि ! मेरा रानीत्व मेरे नारीत्व के स्वच्छन्द विकास को चूर चूर कर रहा है—यह असीम वैभव, यह अनन्त यौवन क्या यों ही........" रानी का गला भर आया और उसके सीपी के समान नेत्रों में नाच उठे दो बड़े बड़े मोती—

अतिथि उद्विग्न हो उठा—उसने अनजाने रानी को व्यथित कर दिया था—उसने रानी की ओर क्षमाप्रार्थी की दृष्टि से देखा। रानी करुणा और याचना भरे स्वरों में बोली—"तुम मुझे प्रेम न सिखाओगे अतिथि ? मैं मानवी नहीं हूँ पर न जाने क्यों यह शब्द मुझे कुछ विस्मृत युगों का स्मरण दिला रहा है। प्रतीत होता है जैसे जन्म जन्मान्तर की विस्मृति को चीर कर कोई अव्यक्त शब्दों में मुझे सुना रहा हो प्रेम के उदास गीत, क्यों मेरे ही हृदय के रहस्यों से मुझे अपरिचित रक्खोगे अतिथि..........." और टप टप दो आँसू चू पड़े रानी के आँचल पर—

अतिथि ने जैसे प्रायश्चित का मार्ग ढूँढ़ लिया। एक विचित्र मादकता से—रानी के नयनों में नयन डाल कर वह मृदुल दुलार-भरे शब्दों में बोला—"मैं तुम्हें प्यार सिखाऊँगा मेरी रानी!—"

रानी के उदासी के बादल फट गए और उनमें से झाँक पड़ीं दो चार उज्ज्वल हास की रेखा-किरणें—

× × ×

पथिक प्रासाद के झरोखे से देख रहा था—चारों ओर फैली हुई असीम जलराशि। चुपके से लहरों को लहरें चूमती थीं और झिझक कर पीछे हट जाती थीं। एक विचित्र आशंका से त्रस्त सी होकर-बेसुध पथिक को पता नहीं था कब रानी उसके पार्श्व में आकर खड़ी हो गई—रानी के चंचल करों ने चुने कुछ जल-पाटल और उन्हें राशि राशि बिखेर दिया अतिथि—भावमग्न अतिथि-पर। अतिथि ने चौंक कर मुड़ कर देखा—वरुण-लोक की रानी उसके हृदय-लोक की रानी —उसने वे कोमल जल-पाटल उठाए और उन्हें मस्तक से लगा लिया—

"किन्तु इनमें सौरभ तो है ही नहीं रानी!"

"पर इनमें अनन्त यौवन तो है, अबाध विकास तो है, अमर सौन्दर्य तो है—क्या तुम्हारे लोक में फूलों में सौरभ भी होता है अतिथि! विचित्र है तुम्हारा लोक—सौन्दर्य तो रूप का गुण है—पर सौरभ तो नहीं—फिर भी तुम्हारे लोक में फूलों में भी सौरभ होता है।"

"हाँ! हमारे फूलों में सौरभ होता है रानी! हमारे लोक की पार्थिवता में ऐसे ही अलौकिक गुण रहते हैं रानी!

—रूपवान फूलों में सौरभ—कठोर लौह-तारों में मधुर स्वर और मादक यौवन में अलौकिक प्रेम—"

"तो प्रेम यौवन-सुमन का सौरभ है—लेकिन अतिथि! मत्स्यबालाओं से सुनती हूँ कि इन्हें कभी-कभी तटों पर वह कर एकत्र हुए राशि-राशि फूल मिलते हैं जो निरन्तर जल में रहने से गल जाते हैं। उनका रंग उड़ जाता है और उनसे निकलने लगती है बड़ी दुर्गन्ध—कभी-कभी श्मशान घाटों पर भस्म के ढेरों में दबी मिलती हैं फूल मालाएँ जो जलकर शुष्क हो जाती हैं और जो हल्के स्पर्श से चूर-चूर होकर बिखर जाती हैं। कैसा दर्दभरा वर्णन है अतिथि! क्या इन्हीं फूलों की भाँति तुम्हारे देश का यौवन भी अस्थिर है? क्या वहाँ का प्रेम भी इतना नश्वर है—बोलो।"

"हाँ रानी! यौवन के आश्रित रहनेवाला प्रेम भी इतना ही नश्वर है।"

"अतिथि!" रानी चीख पड़ी। "प्रेम नश्वर है, यौवन अस्थिर है। नहीं-नहीं अतिथि! ऐसा मत कहो।"

"किन्तु रानी!"

"किन्तु परन्तु नहीं अतिथि! प्रेम नश्वर है, यौवन अस्थिर है। आहा! मेरे हृदय में जैसे ज्वालामुखी तप रहा है—मेरी चेतना में जैसे तूफान गरज रहे हैं। मेरे मस्तिष्क में जैसे भूचाल आ रहे हैं अतिथि! प्रेम नश्वर है!"

रानी अर्ध विक्षिप्त सी अपने शयन-कक्ष की ओर लड़खड़ाते पाँवों से भागी—अतिथि स्तम्भित था—चकित था—वह सान्त्वना देने के लिए पहुँचा रानी के पास, पर शयन-कक्ष के पट बन्द थे। साँझ हुई, वे पलक मूँद कर सो गए। सात बार कमल फूले और मुरझाए पर रानी के पट पूर्ववत् बन्द थे—

अतिथि अधीर हो गया। रानी का अभाव उसे व्याकुल किए दे रहा था। वह पहुँचा और फुहारों की झालरें हटाकर उसने झाँका कक्ष के अभ्यन्तर में—शैय्या पर अधलेटी रानी सिसक रही थी। वह अपने पर नियंत्रण न कर सका।

"रानी!" आकुल स्वरों में उसने पुकारा।

रानी सिसकते हुए बोली "आओ अतिथि!"

अतिथि भीतर गया—

रानी के आँसू थमे और वह संयत स्वरों में बोली—"अतिथि! मैं युगयुगों से प्रेम की प्रतीक्षा में जीवित थी। मेरी जन्म जन्मान्तर की साधनाओं का उद्देश्य प्रेम था—मैं अपने अनन्त यौवन का साफल्य प्रेम में पाना चाहती थी। तुमने प्रेम की नश्वरता का चित्र खींचकर मेरी गति का आधार मुझसे छीन लिया। अतिथि! तुमने मेरी अन्तिम आशा को एक कठोर प्रहार से धूल में मिला दिया है—तुमने मेरे अन्तिम प्रदीप को एक निर्मम झोंके से बुझा दिया है और मुझे छोड़ दिया है घोर तिमिर में भटकने के लिए एकाकी—यह किस जन्म के कृत्यों का बदला तुम मुझसे ले रहे हो आगन्तुक? बोलो, इसका उत्तर दो।"

पथिक आश्चर्यचकित था। उसने कुछ कहना चाहा पर उसके शब्द ओठों पर ही घुट कर रह गए। उद्विग्न, व्याकुल और अधीर होकर उसने काँपते करों से थाम ली रानी की मृणाल भुजाएँ और उनपर चू पड़े दो तप्त आँसू।

रानी चोट खाई हुई नागिन की भाँति बल खाकर उठ बैठी—"यह क्या किया अतिथि? उसने आग्नेय नेत्रों से पथिक की ओर देखा—"यह तुम्हारा प्रथम स्पर्श जैसे मुझे भस्म कर रहा है—मेरे तन का कण-कण जैसे जल उठा है—शायद तुमने

प्रेम के करों से मुझे स्पर्श कर लिया है और तुम्हारे नश्वर मृत्युलोक की प्रेम की छाया मेरे अनन्त यौवन पर भी पड़ गई-आह! मेरे हिम से अंग गल रहे हैं इसमें......अतिथि......"

अतिथि प्रयत्न कर रुँधे गले से बोला—"रानी! हम मनुष्यों का प्रेम मनुष्य ही समझ सकते हैं-यौवन का आश्रित प्रेम नश्वर होता है-पर प्रेम का आश्रित प्रेम अमर-हम नश्वर जानते हुए भी पलकें मूँद कर प्रेम करते हैं—क्योंकि हमारा प्रेम आत्मदान होता है—याचना नहीं—तुमने प्रेम को यौवन की तुला पर तौलना चाहा रानी! और प्रेम के भीषण ताप में गल रही हो। तुम्हारी वासनाएँ और तुम्हारा नश्वर यौवन—और मैं। तुम अनन्त शून्य में झाँक कर देखना रानी! मैं प्रेम की जलन में जल कर भी तुमसे प्रेम करूँगा। प्रेम की जलन मेरे हृदय में तुम्हारी कांचन-प्रतिमा को और भी चमका देगी रानी! मेरा प्रेम मलिन न होगा—बिदा।"

पर इस कथन के पूर्व ही रानी का हिम-तन गल चुका था। रह गई थीं कुछ जल की लहरें जो प्रवाल के फर्श पर चूर-चूर होकर बिखर गईं।

× × ×

सुदूर क्षितिज में जहाँ आकाश और समुद्र मिलकर एक रहस्यमय देश का सृजन करते हैं—वहाँ साँझ होते ही आता है एक चमकीला तारा—लहरें उसे चूमने का व्यर्थ प्रयास करती हैं। दो चार बादल आकर दुलराते हैं और वह अपना मुँह छिपाकर उनके विशाल वक्ष पर रो लेता है।

प्रातर्वेला में सूर्य की दो किरणें किसी की विशाल भुजाओं की भाँति आगे बढ़ती हैं उसे आलिंगन में भरने के लिए, पर उनके समीप आने के पहले ही वह अरुणिमा में मुँह छिपा कर

लौट जाता है अपने निराशा के देश को। व्याकुल किरणें निराशा से चूर-चूर होकर बिखर पड़ती हैं सिकताराशि पर—

मत्स्यबालाएँ आती हैं। उन स्वर्ण किरणों को बीन कर ले जाती हैं वरुण-लोक। उनका कहना है कि यह है उनकी अदृश्य रानी का प्रेम जो तारे के रूप में चमकते अतिथि के पास जाता है पर उसके ताप से निस्तेज होकर बिखर जाता है पृथ्वी पर और वे उसे बीन लाती हैं अपनी रानी की स्मृति में—

वरुण-लोक में अब प्रेम करना मना है।

—.—

कला एक मृत्युचिह्न

९

"मैं विवश हूँ राजकुमारी! मैं व्यक्तियों की प्रतिमा का अंकन नहीं करता।"

"व्यक्तियों की प्रतिमा का अंकन! मैं व्यक्ति मात्र नहीं हूँ कलाकार, मैं सुन्दरी हूँ और सुन्दरी केवल व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व होती है। काली घटाओं के रेशों से बुनी हुई मेरे नयनों की कजरारी अज्ञानता, पुरवैया के झकोरों से काँपते हुए मृणाल की भाँति मेरे अंगों की चंचलता, क्या ये कलाकार के मन को लपटों में नहीं डुबो सकतीं। प्रलय-निदाघ की अग्निमयी सुन्दरता को अपनी पँखुरियों में समेट लेनेवाली रक्त-कलिका सी मैं, क्या मैं कला की उपास्य नहीं बन सकती?"

"नहीं, अनन्य-सुन्दरी, नहीं! तुमने कला को गलत समझा है। कला का विषय, कला का उपास्य, सौन्दर्य होता है—सुन्दरियाँ नहीं!"

"सुन्दरियाँ नहीं, यह कैसे कहते हो कलाकार? प्रेम की काँपती हुई मध्यान्ह बेला में जब कोई सुन्दरी चारों ओर बिखरी हुई यौवन की धूप को अपने एक अश्रु में समेट कर अपने देवता के चरणों पर चढ़ा देती है तो क्या उस एक झिलमिल बूँद में आकाश और पृथ्वी का सारा सौन्दर्य नहीं सिमट आता? क्या कल्पना की सीपी में वह प्रेम की एक पथ-दर्शक बूँद कला का मोती नहीं बन जाती?"

"नहीं, राजकुमारी! कलाकार ज़ीवन के धागे में क्षुद्र मोती नहीं, अनन्त जल-राशियों का विस्तार गूँथा करता है। कला प्रेम को, सौन्दर्य को, आधार अवश्य बनाती है, किन्तु एक व्यक्ति की रूप-रेखाओं में बँधे हुए सीमित अंश को नहीं, वरन् व्यक्तिगत सीमा बन्धनों से परे प्रेम की अनन्त समष्टि को साकार रूप देकर ही कलाकार उसकी पूजा करता है।"

"तो तुम्हारा विचार है कि एक व्यक्ति को ही अपना प्रेमास्पद बना कर उसके चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण कर देनेवाले प्रेमी में गम्भीरता नहीं होती?"

"गम्भीरता हो किन्तु उसमें प्रेम की जलती हुई प्यास नहीं होती, उसमें प्रेम की पूर्णता को आत्मसात् कर लेनेवाली पूर्णता नहीं होती, राजकुमारी! कलाकार का प्रेम तो कल्पना के मखमली पंखों पर फूल से फूल पर उड़ता हुआ, रेशमी किरणों पर विश्राम करता हुआ, सूर्य के समीप तक जा पहुँचता है। कलाकर एक प्रेमास्पद के व्यक्तित्व पर अपना सब कुछ न्योछावर नहीं कर सकता, क्योंकि वह प्रेमिका से नहीं, प्रेम से प्रेम करता है।"

"प्रेम से प्रेम करता है! क्या कह रहे हो कलाकार?"

"तुम नहीं समझ सकतीं राजकुमारी। कलाकार का उपास्य उसकी प्रेमिका नहीं होती, वरन् स्वयं प्रेम होता है। प्रेमिकाएँ तो

वे पूजा-फूल हैं जो प्रेम के देवता के चरणों पर चढ़ा दिए जाते हैं। इस अनवरत पूजा की रीति को कला कहते हैं।"

प्रेमिकाएँ पूजा-पुष्प हैं जो एक के बाद एक देवता के चरणों पर चढ़ा दी जाती हैं, कली के बाद कली का रस चूस कर उड़ जानेवाले भँवरे की पुरुषोचित वंचकता का ही नाम कला है न! अपने छल, अपनी वंचना, अपने पाप को छिपाने का अच्छा बहाना ढूँढ़ निकाला है तुमने! हम स्त्रियाँ प्रेम को साधना समझती हैं। शलभ की भाँति जलते हुए प्रेम की लपटों को आलिंगन में समेट कर प्रेम की प्यास को निर्वाण की पूर्णता में विलीन कर देती हैं।"

कलाकार हँस पड़ा—

"तुमने अच्छी उपमा दी राजकुमारी! शलभ जैसे तुच्छ कीटों में कल्पना या पूर्णता की प्यास होती भी है या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। उस शलभ से अधिक जागरूक तो दीपशिखा है जो मृत्यु के बाद मृत्यु को अपनी ज्वाला में विलीन कर परवानों के शवों पर भी गुलाबी प्रकाश बिखेरती जाती है।"

"चुप रहो! प्रेम की गम्भीर अनन्यता की हँसी उड़ानेवाले भावनाहीन पशु!"

"पशु"! कलाकार फिर हँसा—"इस प्रशस्ति के लिए धन्यवाद राजकुमारी! मनुष्य कहकर कम से कम तुमने मेरा अपमान तो नहीं किया!"

राजकुमारी कुछ न बोली। अग्निमय दृष्टि से कलाकार की ओर देखती हुई प्रकोष्ठ की भूमि पर महावर-मंडित चरणों से जलते हुए निशान छोड़ती हुई आवेश में चली गई। कलाकार एक बार मुसकराया। फिर गम्भीरता से उन चरण-चिह्नों की ओर देखता हुआ चिन्ता-मग्न हो गया।

प्रातःकाल जब पारिजात-निकुंज में नवागत खंजनों के स्वरों पर थिरकती हुई किरणें कलाकार की पलकों से नींद की खुमारी धोने लगीं तभी प्रतिहारी ने सूचना दी—"राजकुमारी की दूतिका आई है।"

कलाकार उठ बैठा। आकाश-वेलि के तन्तुओं से बुना हुआ परदा हटा कर दूतिका ने प्रवेश किया। उसके आरक्त नयनों में अब भी रात जग रही थी। जागरण के भार से पँखुरियों सी पलकें झुकी जा रही थीं। खुमारी भरे कदम पराग-सिक्त भूमि पर डगमगा रहे थे।

"आज रात भर अन्धकार की परतों में कुछ खोजती रहीं क्या देवी?" कलाकार ने मुसकरा कर पूछा।

"हाँ कलाकार! आज रात को हमारी राजकुमारी खो गई थीं!"

"राजकुमारी खो गई थीं?"

"घबराओ न कलाकार! वे इस पत्र-लेखन में खोई थीं, बार बार लिखती थीं, बार बार मिटा देती थीं!"

और दूती ने आगे बढ़कर चन्दन-छड़ी पर लपेटा हुआ भोजपत्र कलाकार के समीप रख दिया। कलाकार ने एक बार दूती को ओर देखा, दूसरी बार उस पत्र की ओर और फिर उसे उठाकर पढ़ने लगा।

हरसिंगार के रस से केसरिया अक्षरों में लिखा था—"कलाकार! वर्ष भर की अवधि में तुम्हें एक आदर्श सौन्दर्य की प्रतिमा का निर्माण करना होगा। ध्यान रहे, सौन्दर्य की प्रतिमा, सुन्दरी की नहीं। वह प्रतिमा जो पृथ्वी की प्रत्येक सुन्दरी के गर्व को चूर-चूर कर दे। किन्तु शर्त यह है कि वह सजीव हो, सस्पन्द हो, भावनामयी हो, प्राणवती हो, पत्थर

की निष्प्राण मूर्ति मात्र न हो। यदि तुम उस निर्जीव सौन्दर्य में प्राण न फूँक सके तो स्मरण रखना तुम्हारा भाग्य मेरे चरणों के तले होगा!"

कलाकार स्तब्ध हो गया। द्वार के समीप राजकुमारी के अरुण पद-चिह्न अभी मिटे न थे। उन पर स्वर्णिम चूर्ण बिखर जाने से उनका वर्ण रक्तिम हो गया था और वे अंगारों से धधकने लगे थे। कलाकार उनसे उठती हुई अदृश्य लपट में डूब गया।

"कुछ प्रत्युत्तर?" दूती का प्रश्न झंकार उठा!

कलाकार की तन्द्रा टूट गई—"हाँ, राजकुमारी से कहना, बारह पूर्णमासियों के बाद मैं उन्हें अपनी नवीन मूर्ति के उद्घाटन के लिए निमंत्रित करूँगा!"

"और कुछ?"

"हाँ, और कह देना फूलों के रेशों से फाँसी गूँथने में राजकुमारी चतुर हैं!" दूती चली गई।

× × ×

कलाकार के अस्तित्व के सामने उसकी कला का मान आज एक प्रश्नचिह्न बन कर खड़ा हो गया था। उसने राजकुमारी की चुनौती स्वीकार कर ली थी। वह अपनी मूर्तिशाला में गया और निर्माण में तल्लीन हो गया। चैत्र-वैशाख की चन्द्रकिरणें विलासगृह के पाटल-सौरभ को छेड़ती हुई आईं किन्तु मूर्तिशाला के द्वार से ही लौट गईं।

आषाढ़ की प्रथम घटाएँ किरणों के कमलों पर लहरानेवाली भ्रमर-पाँत की भाँति आईं किन्तु रिमझिम सन्देश देकर चली गईं। उद्यान में मोर पंख फैलाकर नाच उठे, किन्तु उनके नृत्य को देखकर विह्वल हो उठनेवाला कलाकार एकाग्रचित्त से निर्माण में तल्लीन रहा। बादलों से आँख-मिचौनी खेल कर,

चन्द्रकिरणों का आँचल उलट कर, कदम्ब की भुजाओं को आलिंगन में झकझोर कर, केतकी का घूँघट हटाकर, दो चार चुम्बन चुरा कर आनेवाला मादक समीर भी कलाकार की तन्द्रा को अस्त-व्यस्त न कर पाया।

धीरे धीरे आकाश के सरोवर में इन्द्रधनुषी कमलों ने पलकें मूँद लीं। बादलों के श्यामल कमलपत्र पवन की धारा में वह गए, मयूरों के नृत्य थककर सो गए और शरद् के निरभ्र आकाश में मधुभाषी हंसों का कूजन चन्द्रकिरणों की डोर पर झूलने लगा।

और एक दिन कलाकार की मूर्तिशाला में उसका भोला हरिण-शावक कान उठाए, मुख में अधकुतरी शेफाली दवाए, भयभीत मुद्रा में भागता हुआ आया और कलाकार के अंक में मुँह छिपा कर खड़ा हो गया।

कलाकार ने प्यार से उसे थपथपाते हुए पूछा—"कोई नवागन्तुक है क्या?" और वह मूर्तिशाला के बाहर निकल आया। देखा—राजकुमारी खड़ी थीं।

दोनों कंधों पर लापरवाही से डाली हुई भौंराली वेणी में मालती-कुसुम गुँथे हुए थे। कानों में ओस से भीगी हुई धान की बालियाँ झूम झूम कर गाल चूम रही थीं। कलाइयों में कली-युक्त मृणाल लिपटे थे और गले में पड़ी हुई मणिमाला चन्दन-चर्चित वक्ष पर सर रख कर करवटें बदल रही थी।

"कलाकार, प्रतिमा प्रस्तुत हो गई?"

"अभी हृदय का निर्माण शेष है राजकुमारी!"

"वह सदा शेष रहेगा कलाकार! जिसके पास स्वयं हृदय नहीं, वह कला में हृदय कैसे ला सकेगा!"

कलाकार चुप रहा।

"कलाकार! तुम एक व्यर्थ की आशा में जीवन खो रहे

हो। पत्थर के निर्माण में तुम जीवन नहीं फूँक सकते। एक व्यक्ति के हृदय की उपेक्षा कर समष्टि के सौन्दर्य की पूजा एक आकाश-कुसुम है, उसे हम मनुष्य नहीं तोड़ सकते कलाकार! अगर तुम्हारी कला की व्याख्या सत्य है तो कला एक मौत का मड़राता हुआ बादल है ......"

"हो सकता है! कला एक मौत का मड़राता हुआ बादल है जो पश्चिम के आकाश में बिखरे हुए रक्तिम हलाहल को पी जाता है, किन्तु उससे बरसनेवाली जीवन-दायिनी बूँदों का स्पर्श कर धरा पुलकित हो उठती है!"

"धरा पुलकित हो उठती है, किन्तु कलाकार के प्राण ओस की बूँद की तरह ढुलक कर धूल में खो जाते हैं!"

"खो नहीं जाते राजकुमारी! वे वन-फूलों में सौरभ बन कर दिशाओं में गमक उठते हैं। जानती हो, कलाकार जीवन का विजेता होता है!"

"हुँ—कलाकार जीवन का विजेता होता है, किन्तु मृत्यु का शिकार! और ये निष्प्राण मूर्तियाँ, जिन्हें तुम जीवन की पूर्णतम अभिव्यक्ति कहते हो, ये कलाकृतियाँ वे मुरझाए हुए फूल हैं जिन्हें कलाकार सिसक सिसक कर अपनी मृत्यु-समाधि पर बिखेरता जाता है। कला की साधना का पहला कदम कलाकार के शव पर चरण धर कर बढ़ता है। कला की प्रतिमा का प्रथम अभिषेक कलाकार के तरुण रक्त से प्रतिपादित होता है। भूल जाओ इस पागलपन को कलाकार! पूर्णता में जीवन नहीं होता। पूर्णता में होती है मृत्यु की शांति। अपूर्णता में स्पन्दन होता है, जीवन होता है, वासना का वेग होता है, गुनाह की रंगीनियाँ होती हैं, कल्पना की उड़ान होती है कलाकार!"

कलाकार ने कुछ उत्तर न दिया—केवल मुसकरा कर चुप हो रहा।

× × ×

कलाकार व्यग्र था। वह बेचैनी से प्रतिमा के सम्मुख टहल रहा था—"क्या मैं हार जाऊँगा? क्या मेरी कला जीवनमयी न बन सकेगी? बोलो मेरी प्रतिमे! तुम्हें कौन से प्राणों की अर्चना चाहिए?"

प्रतिमा निस्पन्द थी।

"बोलो मेरी पत्थर की मूरत! अपना जीवन, अपना यौवन, अपनी वासना सब कुछ समर्पित करने के बाद भी तुम मेरा मान न बचा सकोगी? मैं अपनी तरुणाई के फूल तुम्हें चढ़ा चुका, फिर भी तुम्हारी पत्थर की नसें अभी सूखी क्यों हैं? उनमें अभी खून की रवानी क्यों नहीं दौड़ी?"

प्रतिमा मौन थी, अचल थी!

कलाकार ने उस प्रकोष्ठ में मृत्यु की घुटन का अनुभव किया। उसने उठ कर वातायन का आवरण हटा दिया। शंख की घंटियाँ झनझना उठीं!

दूर प्रतीची के आकाश के घायल हृदय से ताजा खून फैल रहा था। उसके दर्द भरे वक्ष में सान्ध्य तारे की नोक अब भी चुभी थी।

कलाकार क्षण भर उधर देखता रहा और फिर व्यथित होकर बोला—"राजकुमारी शायद सच कहती थी, अपूर्णता में ही जीवन है। पूर्णता शायद इसी मूर्ति की भाँति निर्जीव होती है।"

कलाकार सहसा रुक गया। क्षण भर तक वह कुछ सोचता रहा और सहसा पश्चिम के आकाश का खून उसकी आँखों में उतर आया। जलती हुई निगाहें प्रतिमा पर डाल कर वह मुड़

पड़ा। उसकी गति में किसी भयानक निश्चय का आभास था।

प्रतिमा के सामने वह तन कर खड़ा हो गया।

"अब तक मैंने तुम्हारा निर्माण किया था, किन्तु तुम जीवनमयी न बन सकीं। अब मैं तुम्हें नष्ट करूँगा। मेरा प्रेम अब तुम्हें चूर-चूर कर देगा! फिर भी तुम जीवित न होगी, फिर भी तुम विद्रोह न करोगी? ओ पत्थर की पूर्णता!" उसने हथौड़ा उठाया—आवेग से उसका शरीर काँप उठा, उसने पलकें मूँद लीं और भरपूर प्रहार किया।

सहसा किसी असीम शक्तिशाली बाहु ने उसकी कलाई थाम ली। उसने चौंक कर आँखें खोलीं। प्रतिमा की फौलादी अँगुलियाँ उसकी कलाई पर थीं और उसके अधरों पर थी पथरीली मुसकान! प्रतिमा की पुतलियों में जहर छलक रहा था।

"कलाकार!" पत्थर के स्वर गूँज उठे—"तुमने आज मुझमें प्राण फूँके हैं, किन्तु ईश्वर से समता करने का अधिकार तुम्हें किसने दिया?"

"मेरे कलाकार ने!"

"मानवीय सीमा को अतिक्रमण करने का दंड भोगने के लिए तैयार हो?"

"दंड! दंड किस बात का? मैं अपनी कला के प्रति सदा ईमानदार रहा। मैंने अपनी पूर्णता के प्रति जागरूकता को धोखा देने की चेष्टा कभी नहीं की। मैंने कला की हत्या करने का पाप कभी नहीं किया!"

"यही तो तुम्हारा अपराध है। कभी पाप न करना स्वयं एक बहुत बड़ा पाप है। संसृति का नियम इसे नहीं सह सकता!"

"मैं केवल एक नियम जानता हूँ—प्रेम का!"

"प्रेम का ?"

"हाँ पत्थर की मूरत, मैं अपनी कला को प्यार करता हूँ, मैं तुम्हें प्यार करता हूँ !"

पत्थर के ओठ खिल गए।

"क्या तुम मेरा प्यार सह सकोगे ? तुमने अपने से अधिक पूर्णता का निर्माण किया है—मेरे स्पन्दन को तुम अपने वक्ष पर सह सकोगे ?"

कलाकर ने स्वीकृति का संकेत किया।

"तो आओ !" और पत्थर की दो भुजाएँ आलिंगन के लिए फैल गईं।

कलाकार आगे बढ़ा और मूर्ति ने उसे अपने पथरीले आलिंगन में कस लिया। उसकी नसें चरमरा उठीं—उसकी पसलियाँ तड़क गईं, उसके दिल की धड़कन बन्द होने लगी।

संगमरमर की गर्दन झुकी और मूर्ति ने अपनी जहरीली पलकें कलाकार के अधरों पर रख दीं—उसकी आँखों का जहर कलाकार के खून में गुँथ गया।

× × ×

बाहर के माधवी कुंज में कोयल हृदय फाड़ कर चीख उठी ! राजकुमारी चौंक उठी—"क्या चैत्र आ गया ? कोयल आज प्रथम बार कूकी है !"

"नहीं, राजकुमारी, आज तो फाल्गुन पूर्णिमा है। देखिए न !" क्षितिज के पास उदास पीला चन्द्रमा धीरे धीरे उठ रहा था।

"शृङ्गार करो ! आज कलाकार के भाग्य का निर्णय करना है। पागल ! कल्पनाओं से प्यार करता है, मूर्तिमान सौंदर्य को ठुकरा कर !"

और राजकुमारी ने केशों में लगा मृणाल-तन्तु खोल दिया। घटाएँ छिटक गईं। एक सखी उन्हें अगर के धुएँ से सुवासित करने लगी। दूसरी अलकों के गुम्फन में कनेर-कलियाँ सँजोने लगी। दूती ने कुसुम का रतनार अंगराग मुँह पर मलते मलते चुटकी काट कर पूछा—"क्या अशोक-कुंज से छिप कर कामदेव ने कोई तीर तो नहीं चला दिया है?"

"चुप रहो!" राजकुमारी ने आवेश में कहा—"आज या तो नारी का सौन्दर्य हारेगा या कला का आकर्षण!"

और राजकुमारी चल दी। प्रकोष्ठ के द्वार बन्द थे। उसने कंकण सँभाल कर धीरे से पट खोले और चीख पड़ी। मूर्ति के चरणों पर कलाकार का शव पड़ा था। ओठ जहर से नीले पड़ गए थे।

राजकुमारी क्षण भर खड़ी रही और उसके बाद जोर से हँस पड़ी—अट्टहास कर उठी। दूती सहम गई—"राजकुमारी! राजकुमारी!!"

"मना मत करो! हँसने दो जी भर कर मुझे। आज मेरी विजय हुई है!"

"उफ! कितनी निष्ठुर हो तुम!"

"निष्ठुर! मैं कलाकार की मौत पर हँस रही हूँ, क्योंकि मैं उसे प्यार करती थी! प्यार केवल हँसी है—भयंकर हँसी जो हम अनजाने में करते हैं। कल तक कलाकार मुझ पर हँसता रहा, आज मैं प्रेम पर हँस रही हूँ, कल शायद दुनिया हम सब पर हँसेगी।"

दूती सहम गई!

"और···यह पत्थह की प्रतिमा! तोड़ दो इसे, चूर-चूर कर दो इसे···" राजकुमारी ईर्ष्या से चीख उठी।

दूती आगे बढ़ी—

"नहीं रहने दो ! इसे कलाकार की समाधि पर स्थापित कर देना ! यह पूर्णता की प्रतीक—यह मृत्यु-चिन्ह ! शायद दुनिया इसे कलाकार की देन समझ कर इसकी पूजा करेगी ! पागल दुनिया !"

और राजकुमारी फिर हँस पड़ी ।

आधार और प्रेरणा

३

सुगन्धित धूम्र की रेखाएँ शून्य पट पर लहरा कर अनन्त में मिलने लगीं। शमी की झूलती हुई कोमल शाखाओं में गूंज उठा ऋचागान। बालक के स्वर में स्वर मिला कर बालिका भी ऋचाएँ गाने लगी। उसका स्वर इतना मीठा था कि डाल पर बैठी कोयल लजा कर चुप हो गई। हरिण-शावक तृण चरना भूल कर यज्ञमंडप में आ बैठे। पास के लताकुंज से सारिका उतर कर बालिका के कन्धे पर आ बैठी। उसके स्नेह से धृष्ट बनी सारिका ने उसके स्वरों का अनुकरण करना चाहा, पर असफल होकर उड़ गई। सहसा उसके पंख शमी की कंटकित टहनियों में उलझ गए और वह व्यथित स्वरों मे क्रन्दन कर उठी।

व्याकुल होकर बालिका ने गान बन्द कर दिया और पलकें खोल दीं। सामने की टहनियों में उलझ गई थी उसकी भोली सारिका।

"शिखर ! शिखर !" वह चीख पड़ी —"देखो, शमी की टह-नियों में फँस कर मेरी सारिका के पर टूट न जायँ ।"

"तुम्हें इसका भी ध्यान है, सरिता, कि तुम्हारी बातों में फँस कर मेरी ऋचाओं के स्वर टूट न जायँ—मुझे ऋचापाठ करने दो !"

बालक ने फिर शान्ति से ऋचाएँ पढ़नी प्रारम्भ कीं ।

"मैं उतनी दूर न पहुँचूँगी शिखर ! देखो, कैसी तड़-फड़ा रही है असहाय सारिका ।"

"सारिका ! सारिका !" शिखर झल्ला कर बोला—"तुम्हें और भी कोई कार्य रहता है ?" बालक ने सारिका के परों को टहनियों से छुड़ा दिया । वह पास की एक डाल पर बैठ कर गाने लगी ।

सरिता हँस पड़ी—बालक और भी चिढ़ गया ।

"मैं कल गुरूजी से कह दूँगा कि तुम्हें यज्ञमंडप में न आने दें ।"–शिखर बोला ।

"वह रहे पिताजी !" सरिता ने झुरमुटों की ओर इंगित किया ।

"कौन ? गुरूजी ?" निमिष मात्र में दोनों अपने आसन पर आ बैठे और पूर्ववत् ऋचापाठ करने लगे ।

ऋषि ने दूर से यह देखा और मुसकरा दिया ।

× × ×

सरिता सिसकियाँ भर रही थी और ऋषि उसे सान्त्वना दे रहे थे । शिखर कुछ न समझ कर मौन खड़ा था ।

"शिखर !" शान्त स्वरों में ऋषि बोले, "आज मेरी साधना का अन्त है, वत्स, और तुम्हारी साधना का आरम्भ । मैं अब सन्यास ग्रहण करूँगा और तुम मेरे आश्रम और सरिता की रक्षा करना ।"

शिखर ने सादर शीश झुका दिया।

"जीवन से विमुख न होना, वत्स, और न जीवन से हार मानना! दुःख के प्रत्येक आघात में सुख की छाया ढूँढ़ना—निशीथ के तम में ऊषा की किरणें खोजना। शिखर, उस तम से हार कर पथरीले मार्ग पर ठोकरें न खाना!"

मन्द स्वर में सामगान करते हुए ऋषि चल पड़े। दूर पर लता-झुरमुटों के पार से आता हुआ उनका स्वर धीरे-धीरे मन्द होकर शून्य में मिल गया।

सरिता अब भी सिसक रही थी। शिखर मौन था

× × ×

"सरिता! आ जाओ!"

सरिता पर्णकुटी के पट खोल कर भीतर आ गई।

"आश्चर्य है शिखर! मैंने तुम्हें पुकारा तो नहीं था फिर भी तुमने कैसे जान लिया कि मैं द्वार पर हूँ!"

"इसमें आश्चर्य क्या है?"—शिखर हँस कर बोला। "तुमने आज शिरीष-कलिकाओं का नूपुर पहना है न।"

"पर मैं तो इन नूपुरों को मौन कराती चल रही थी कि कहीं पास के नीड़ों में प्रसुप्त विहग-शिशु चौंक कर जग न जायँ—फिर शिरीष-कलिकाओं के नूपुरों की झंकार भी मूक ही होती है शिखर!"—सरिता बोली।

"कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं सरिता! जो मूक होकर भी बोल उठती हैं। तुम्हारे चरणस्पर्श से इन कलियों में जो स्पन्दन बोल उठा, जो उमंगे जग उठीं, उनकी हिलोरों ने पवन के संग उड़-उड़ कर मेरी दीपशिखा को कँपा दिया और सिहरते प्रकाश में काँप उठनेवाले अक्षरों में मैंने पढ़ ली तुम्हारे आगमन की पूर्व सूचना।"

सरिता खिलखिला कर हँस पड़ी, "तो यह कहो कि अब

ऋषिजी ध्यान छोड़ कर कविता करने लगे!"

"हाँ सरिता, ध्यान और उपासना में तो ईश्वर की कल्पना ही कल्पना रहती है, पर कविता के स्पर्श से तो प्रस्तर भी देवता हो जाता है!"

सहसा पट पर किसी ने अँगुलिप्रहार किया।

सरिता ने उठ कर कपाट खोल दिए।—"कौन! स्वामीजी?" उसने झुक कर चरण स्पर्श किए और बाहर चली गई। शिखर ने अपना आसन छोड़ दिया। स्वामीजी उस पर बैठ गए। बाहर जाती हुई सरिता की ओर उन्होंने ध्यान से देखा और बोले—

"शिखर! मलयशिखरों पर चन्दन होता है न?"

"हाँ, स्वामी!"

"यदि वह चन्दन झोकों के साथ सुगन्धरूप में न बिखर कर उन्हीं मलय-उपत्यकाओं में भटकता रह जाय तो संसार में उसे कौन जान पाएगा। और यदि उस उमड़ते हुए सुवास को दो-चार कोमल पल्लव अपने बन्धन में बाँध रखना चाहें तो?"

"स्वामी, चन्दन का स्वभाव ही विस्तार है। वायु के प्रबल झकोरे उस सुगन्ध को उन पल्लवों की सीमा से छुड़ा कर बिखेर देंगे अनन्त आकाश में!"

"बहुत सुन्दर शिखर! किन्तु मैं देखता हूँ तुम्हारे मन के अक्षत-चन्दन किसी विशेष व्यक्तित्व की ही पूजा में सीमित हो गए हैं वत्स! क्या मैं आशा करूँ कि कोई पवन का झकोरा उसे इन बन्धनों से छुड़ा पाएगा?"

शिखर समझा और समझ कर भी न समझा।

स्वामीजी ने ध्यान से देखा उसके मुख की ओर और बोले—

"शिखर! यदि यह प्रेम, यह पूजा, यह अर्चना मनुष्य के स्थान पर तुम देवता के प्रति करते तो तुम्हें स्वर्ग मिल गया

होता युवक ! स्त्री प्रभात की ओस होती है, जिसे सूर्योदय होते ही सूरज की किरणें हर ले जाती हैं और दूर्वादल प्यासी दृष्टि से देखते रहते हैं नीलाकाश की ओर । यदि वे दूर्वादल ओस के स्थान पर किरणों से प्रेम करते तो उन्हें अनन्त प्रकाश मिलता । आकाश से प्रेम करते तो उन्हें असीम आश्रय मिलता............।"

"पर स्वामीजी," शिखर बात काट कर बोला "उन्हें ओस की सजलता न मिल पाती, उन्हें किरणों का ताप ही मिलता, उन्हें आकाश की शून्यता ही प्राप्त होती, वे जीवन की हरियाली से अपरिचित ही रह जाते !"

"जीवन की हरियाली ! तुम्हारी भूल है शिखर ! उस हरियाली का क्या आश्रय ढूँढ़ना जो क्षणभंगुर है—नश्वर है। इस दुःख की रजनी से निकल कर उस दीपक की खोज करो शिखर ! जो तुम्हें अनन्त प्रकाश दे सके ।"

स्वामीजी चले गए, पर उनके शब्द जैसे अब भी शिखर के मन में गूँज रहे थे ।

× × ×

"मैं मनुष्य के स्थान पर ईश्वर की पूजा करूँगा, मैं सीमित न रह कर असीम बनूँगा, मैं प्रेम के स्थान पर स्वर्ग की कामना करूँगा !" शिखर ने निश्चय किया ।

× × ×

प्रभात में सरिता ने देखा—पर्ण कुटी के कपाट खुले थे। सम्भवतः शिखर गया है स्नान के लिए। वह प्रतीक्षा करती रही .....किन्तु......।

"जाओ शिखर ! तुम देखना सरिता तुम्हारे मार्ग में बाधक न बनेगी। ओस नश्वर होती है, पर वह स्वयं गिर कर भी फूलों में मादक सौरभ भर जाती है। मैं मिटूँगी शिखर, पर तुम्हारा

सौरभ पल्लवों में उलझ कर न रह जायगा। जाओ, जाओ मेरे देवता!" उसने रोकर हृदय थाम लिया और चुप हो रही।

× × × ×

शिखर अब शिखर से आचार्य शिखर हो चुका था। चार ही वर्ष की साधना में वह योग की सिद्धि कर चुका था। भावनाओं के तुच्छ प्रवाह को उसने बुद्धिबल से जीत लिया था। बस एक यत्न और—और फिर स्वर्ग उसके चरणों पर लोटेगा।

× × × ×

उसकी समाधि सहसा भंग हो गई। पास के वृक्ष पर एक नीड़ था। युगल पक्षी उड़-उड़ कर आहुतियों से गिरे हुए यव बीन-बीन कर लाते थे और विहग-शिशु कलरव कर उनका स्वागत करते थे। योगी शिखर ने देखा। वह कलरव जैसे उसके मन के झुरमुट में गूँज उठा। उसने सोचा—कितना आनन्द, कितना उल्लास है इनमें। पर ये छोटी-छोटी भावनाएँ हैं—ये भ्रम हैं, माया हैं, मिथ्या हैं।

पर यदि यह मिथ्या है तो सत्य क्या है? सत्य है योग-तप-साधना। संसार झूठा है। स्वर्ग की कामना ही मनुष्य के अन्तर्विकास की प्रेरणा है।

किन्तु यह उल्लास! यह आनन्द! यह भी तो क्षणिक ही है।

किन्तु क्षणिक होते हुए भी इनमें कितना आनन्द है—कितना तेज है! इस लम्बी साधनाका एक क्षण भी इतना मधुर न हुआ होगा। इस संयम, इस साधना में उसने पाया क्या? केवल श्वासों का नियंत्रण मात्र—केवल शारीरिक शक्तियों का वशीकरण भर। पर मन का स्पन्दन—वह तो इन बन्धनों में ही घुट कर रह गया। इस निष्फल साधना के स्थान पर किसी के तप्त हृदय पर वह अमृत-वर्षा करता, किसी तृषित के ओठों पर लोचनोंका नीर ढालता, किसी के हृदय के तम में जलाता प्रेम

का दीपक, तो क्या वह क्षण भरका उल्लास स्पृहणीय न होता ! जीवन दुःख की रजनी है। इस रजनी से निकल कर उसने ढूँढा था स्वर्ग का दीपक, पर देखा—इस दीपक के तले भी अँधेरा ही अँधेरा।

और सुख ? प्रेम के उस स्वर्गमें क्या उसे सुख न था ? क्या सरिता को सुख न था ? क्या स्वर्ग की साधना में काँटोंसे बचने के लिए उसने सरिता का प्रेम पैरों तले नहीं बिछा दिया था ? क्या यह त्याग उसके मन की दुर्बलता नहीं थी ? उसे याद आए ऋषिके अन्तिम शब्द, "दुःख के प्रत्येक आघात में सुखका आभास खोजना—निशीथ के तम में ऊषा की किरणें खोजना, शिखर !" ठीक है, जीवन के उन दुःखों को, प्रेम की उस नश्वरता को ही वह अमर बना लेगा। सरिता को आधार बना कर वह फैला देगा तृषित ब्रह्माण्ड में प्रेम का सौरभ।

वह चल पड़ा अपने आश्रम की ओर—

साफ-सुथरी पगडंडियों पर वन-गुल्म उग आए थे। लता-कुंज सूने थे—उनमें मृगशावक दृष्टिगोचर न होते थे। डालों पर विहग निराश मुद्रा में बैठे थे। विचित्र नीरवता ने जैसे उस समस्त हरियाली पर दुर्भेद्य तम का रहस्यमय आवरण डाल दिया था।

"क्या सरिता कहीं चली गई ?" कुटी के द्वार पर जाकर उसने पुकारा—"सरिता !"

"कौन ?"

"मैं हूँ शिखर।"

सरिता मौन थी। कोई प्रत्युत्तर न मिला।

"क्या मुझे भूल गई सरिता ? मैं हूँ तुम्हारा शिखर।"

सरिता बोली, जैसे मन के किसी भारी आवेग को शान्त करने का प्रयत्न कर रही हो—

"तुमने बहुत देर कर दी शिखर ! मैंने भी तप की दीक्षा ले ली है।"

शिखर पर जैसे वज्रपात हो गया—"सरिता ! तप व्यर्थ है, यह मेरा अनुभव है। व्यर्थ की मृग-तृष्णा में अपने जीवन को न खोओ ! प्रेम की दो बूँदें तप की इस विशाल सैकनराशि से श्रेष्ठतर हैं सरिता !"

"प्रेम !" सरिता जैसे जल कर बोली "मैं खूब समझती हूँ। अपनी कामना, अपनी वासना के आवेग की अपने प्रेमास्पद के द्वारा तृप्ति का ही नाम तो प्रेम है न ?"

"तुम भूल रही हो सरिता !"

"मैं भूल रही हूँ या तुम भूल रहे हो ! याद करो शिखर, जब तुम स्वर्ग के पीछे किसी को ठुकरा कर चले गए थे तो क्या क्षण भर को भी सोचा था कि तुम किसी का स्वर्ग उजाड़ कर जा रहे हो ! यही तुम्हारा प्रेम था शिखर ?"

"वह मेरा प्रेम न था सरिता ! वह मेरी भूल थी। पर क्या तुम उसके लिए क्षमा नहीं कर सकतीं ?"

"क्षमा का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सरिता अब स्वर्ग की साधना करेगी। उसकी प्रेम की भूख मर चुकी है। उसने जी भर प्रेम का रहस्य समझ लिया है !"

"प्रेम का रहस्य ! शिखर हँसा—उसकी हँसी सुन कर डालों पर झूलते हुए विषधर सहम गए—"तट के हलकोरों से घबड़ाकर बालू में फँस जानेवाली सीपी कहती है कि मैं सागर की थाह ले आई ! अपने को डुबो कर ही इस सागर के तल तक पहुँचा जा सकता है सरिता ! प्रेम सरिता की नश्वर लहरों की तरह टूट नहीं जाता। वह शैलशिखरों पर खिंची हुई रेखाओं की तरह अमर रहता है नारी ! मैं तुम्हारे बिना भी प्रेम की साधना कर सकता हूँ सरिता !"

"अवश्य शिखर, कोई दूसरी सरिता मिल जायगी !"

"उफ! इतना तीखा व्यंग न करो स्वर्ग की देवी ! मुझे किसी की आवश्यकता नहीं है। प्रेम केवल नारी की प्रेरणा चाहता है, नारी का आधार नहीं। अनन्त आकाश के किसी कोने में दो-चार बदलियाँ मिल कर उभार देती हैं एक तूफान—पर फिर उस तूफान को बहने के लिए उन बदलियों का सहारा नहीं ढूँढ़ना पड़ता। वे बदलियाँ पतझड़ के पीले पत्तों की भाँति उड़ जाती हैं उस तूफान में। आसमान के तारे काँप उठते हैं झंझा में। तुम स्वर्ग की साधना करो सरिता—मैं तुम्हारी स्मृति के सहारे अपने उजड़े संसार को ही स्वर्ग बना लूँगा ·····!"

पट बन्द के बन्द रहे। पथिक निराश चल दिया।

कुटी के अन्दर—सरिता ने सुनी—शिखर की क्षण-क्षण दूर होती जानेवाली पदध्वनि। उसके मन का दबा आवेग उभर आया। जल की जिस लहर को पकड़ने के लिए जन्म से वह बैठी थी, सागर तट पर वही लहर उसी के हृदय के पत्थरों से टकरा कर चली जा रही है दूर, पर उसके हाथ हिलते ही नहीं। सिसक कर वह बोली—

"जाओ देवता ! तुम कभी न समझोगे सरिता ने तुम्हें क्यों लौटा दिया। क्षण भर के उल्लास के लिए सरिता तुम्हारी साधना को तोड़ना नहीं चाहती थी। आकाश को अपने बाहु-पाशों में कसकर वह उसकी अनन्तता को नष्ट नहीं करना चाहती थी। तुम जाओ, मेरी स्मृति के काँटे चुभ चुभ कर तुम्हारे मार्ग को प्रशस्त बनावेंगे।"

उसका क्षीण स्वर दीवारों से टकरा कर खो गया।

झाड़ियों को चीरता हुआ, काँटों को कुचलता हुआ शिखर चला जा रहा था न जाने किस ओर !

"शिखर ! शिखर !" पीछे से किसी ने पुकारा—वह न रुका।

"ठहरो शिखर !" शिखर ने मुड़ कर देखा—दो देवदूत।

"शिखर ! तुम्हें स्वर्ग ने स्मरण किया है।"

शिखर हँस पड़ा, "स्वर्ग भी व्यंग का अवसर नहीं चूकता—जब मैंने स्वर्ग की साधना की तो मुझे मिली अशान्ति, संघर्ष और शुष्कता; और आज जब मैं प्रेम की ओर बढ़ रहा हूँ तो मेरे सम्मुख आता है स्वर्ग।"

"व्यंग की कोई भावना नहीं है स्वर्ग में शिखर !" एक देवदूत बोला—"जब तुम दुःखोंसे हार कर स्वर्ग की कामना करते थे तो स्वर्ग तुम्हारी दुर्बलता पर हँसता था, आज जब स्वर्ग को ठुकरा कर तुम चल पड़े हो प्रेम के मार्ग पर तो स्वर्ग अपने भविष्य पर काँप उठा है। भय है कि स्वर्ग की नींव, यह संसार, कहीं तुम्हारे लोचनों के नीर से बह न जाय। स्वर्ग तुम्हें आश्रय नहीं दे रहा है, वह स्वयं तुमसे आश्रय की भीख माँगता है शिखर !"

"शिखर भूल को बारंबार नहीं दुहराता, तुम जा सकते हो देवदूत !" देवदूत निराश हो लौट चले। पास की कुटी में सरिता सिसक रही थी। भोले देवदूत—वे क्या जानें उसके मन की व्यथा। करुण स्वर में एक बोला—"स्वर्गके देवता को द्वार से लौटा कर न जाने किस स्वर्ग की कामना करती है पागल नारी !"

बादल के पटों को चीर कर वे उड़ चले स्वर्ग की ओर, संध्या के धुँधले प्रकाश में झाड़ियों के बीच से शिखर चला जा रहा था न जाने किस ओर। उसकी गति में गौरव था।

एक देवदूत बोला—"काश ! हम भी मनुष्य होते साथी।"

"तो हमारे ये झिलमिल पंख गल गए होते उस ज्वाला में ! प्रेम की इतनी भीषण प्रेरणा और जीवन की इस आधारशून्य यात्रा का भार मनुष्य ही वहन कर सकता है।"—दूसरे ने उत्तर दिया।

अमृत की मृत्यु

४

सामने रखे हुए अग्निपात्र से सहसा एक हलके नीले रंग की लपट उठी और बुझ गई। दूसरी लपट उठी और बुझ गई। उसके बाद ही दहकते हुए अंगारे चिटखने लगे और उनमें से बड़ी बड़ी चिनगारियाँ निकल कर कक्ष में उड़ने लगीं।

अग्निपात्र के सामने बैठा था एक भिक्षु–काषाय वस्त्र, चौड़ा भाल, लम्बी और गठी हुई भुजाएँ-अपलक दृष्टि से देख रहा था वह अग्निपात्र को। आग पर धातु के पात्र में कुछ द्रव पदार्थ उबल रहा था। चिनगारियाँ उड़ते ही उसने धातु के पात्र से थोड़ा सा द्रव एक स्वर्णपात्र में ढाला। उसका रंग मदिरा की भाँति लाल था। उसने बड़े ध्यान से देखा। कहीं कहीं उसमें सफेद बूँदें तैर रही थीं। वह प्रसन्नता से हँस पड़ा–"बस थोड़ी देर और!" वह गद्गद् स्वर में बोला—"और, और फिर मैं अमृत का स्वामी बन जाऊँगा। अमृत केवल पुराणों की कल्पना न होगी—वह होगा इस जीवन का यथार्थ।

अमृत की लहरें इस पात्र में इठलाती हुई नाचेंगी !" उसने पात्र फिर अग्नि पर रख दिया।

द्वार पर कुछ आहट हुई। एक भिक्षुने प्रवेश किया।

"क्या है ?"

"अनावश्यक बाधा के लिए आचार्य क्षमा करें ; एक नारी आपसे मिलना चाहती है !"

"नारी ! अमृत और नारी !! क्या साम्य है ? कह दो मुझे अवकाश नहीं है !"

"किन्तु वह कह रही है कि आचार्य भव्य से मिले बिना मैं न लौटूँगी !" भिक्षु ने कहा—

"किन्तु मुझे अवकाश नहीं !" आचार्य भव्य ने कहा और अपने कार्य में लग गए। भिक्षु खड़ा ही रहा—"नहीं गए तुम? अच्छी विवशता है ! अच्छा, उसे भेज दो।"

भिक्षु बाहर गया। द्वार खुला। भव्य ने देखा, द्वार पर थी एक नारी; असीम रूप, अपार सौन्दर्य, अनन्त मादकता। हलका गुलाबी रेशमी अधोवस्त्र, कमर में एक लम्बा मृणाल नागिन की भाँति लिपटा था, जिसके सिरे पर नीलकमल की अधखिली कलियाँ झूल रही थीं। वक्ष पर चम्पई रंग का वस्त्र था। अंगों से पराग के अंगराग का तीखा सौरभ उड़ रहा था। पीछे के केशों को उलट कर बाईं ओर हट कर जूड़ा बँधा था और उस पर मौलश्री की माला लपेट दी गई थी। रमणी ने अधखुली मुसकराती पलकों से भव्य की ओर देखा और नम्रता से नमस्कार किया।

भव्य ! भव्य जैसे मन्त्रमुग्ध सा हो रहा था। उससे नमस्कार का प्रत्युत्तर भी देते न बना। उसकी दृष्टि जैसे जम सी गई हो।

पास के वातायन से वसन्ती बयार का एक झोंका आया और कक्ष में सद्यःविकसित रसाल-मंजरी का मादक सौरभ बिखेरता हुआ चला गया। भव्य ने पवन की गुदगुदी का अनुभव किया। उसी समय पास में रखा हुआ अग्निपात्र फिर दहक उठा। भव्य का ध्यान उधर आकर्षित हुआ। देखा अमृत का गहरा लाल रंग फीका पड़ता जा रहा है, द्वार पर नारी जो थी। नारी ने वीणा विनिन्दित स्वर में कहा—"नमस्कार!"

× × ×

आचार्य नागार्जुन ने हाथ उठाकर चारों ओर उमड़ते हुए प्रश्नों को रोका। भिक्षुकों के प्रश्नातुर अधर काँप कर रुक गए। आचार्य ने पैनी दृष्टि से चारों ओर देखा और हँस कर बोले—"भिक्षुओ! उत्तर और प्रत्युत्तर, विकल्प और और विचार, तर्क और वितर्क से जीवन के सत्य का निरूपण नहीं हो सकता। तर्कों से जीवन की जिस सत्ता का स्पष्ट संकेत तुम्हें मिलता है सम्भव है गहनतर तर्कों से कोई उन संकेतों को असत्य सिद्ध कर दे। जिसे हम आज असम्भव समझते हैं, सम्भव है कालान्तर में वही सम्भव हो जाय। मनुष्य का जीवन इतना छोटा है, मनुष्य की बुद्धि इतनी सीमित है, मनुष्य की कल्पना इतनी भ्रमात्मक है कि हम सत्य का मूलरूप देखने से वंचित रह जाते हैं। हमें जो वस्तु सत्य लगती है वही दूसरे को असत्य। अतः हम न यह कह सकते हैं कि यह वस्तु है, और न यही कह सकते हैं कि यह वस्तु नहीं है। न हमें यही ज्ञात है कि इन वस्तुओं में अस्तित्व और अनस्तित्व समान रूप से व्याप्त हैं। यही चरम अज्ञान हमारा एकमात्र ज्ञान है सत्य की इसी अनिर्वचनीयता का नाम शून्य है। इसी शून्य की साधना, अपने

को अस्तित्व और अनस्तित्व से भी ऊपर उठाना, हमारी गति का लक्ष्य है। यह सभी प्रश्नों का उत्तर है बस !"

नागार्जुन उठ खड़े हुए। सभा विसर्जित हो गई। आचार्य अपनी कुटी में जा ही रहे थे कि एक भिक्षु ने आकर नमस्कार किया।

"कौन भव्य ? क्या है वत्स ?"

"एक शंका है आचार्य ; और उसका समाधान आपको करना ही होगा।"

"क्या प्रश्न है ?" आचार्य ने स्नेह से पूछा—

"आचार्य ! सत्य का निरूपण बिना अपनी सत्ता के स्थापित किए और हो ही कैसे सकता है ? जो मनुष्य स्वयं स्थित नहीं वह निरूपण कर ही कैसे सकता है ?"

"ठीक है भव्य ; किन्तु मनुष्य की सत्ताशीलता को मैं अस्वीकृत तो नहीं करता। हाँ, ब्राह्मणों की भाँति उसमें आत्मा अवश्य नहीं मानता !"

"आत्मा नहीं ! यदि शरीर का अस्तित्व भी है तो कितना नगण्य ! सारा जीवन बिता कर जब हम सत्य की एकाध झलक पाते हैं, आकर्षित होकर उस ओर बढ़ते हैं, उसी क्षण मृत्यु का काला अँधेरा हमें चारों ओर से घेर लेता है। क्या हम अमर नहीं हो सकते ?"

"असम्भव है भव्य !"

"कभी कभी असम्भव भी सम्भव हो जाता है आचार्य ! आज मैं आपको एक रहस्य बताऊँ। विन्ध्यपथ में मुझे एक भोजपत्र मिला था। उस लिपिका अध्ययन करने के बाद उसमें कुछ ऐसे संकेत मिले हैं कि अमृत का निर्माण सम्भव है।"

नागार्जुन चौंक पड़े।

"सच ! भव्य तुम मेरे योग्य शिष्य हो। देखता हूँ मेरे पश्चात् मठ की रासायनिक परम्परा को तुम बनाए रख सकोगे। प्रयत्न करो वत्स! मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है!"

बाल भिक्षु तरुण हुआ। नागार्जुन के बाद आचार्य बना और अमृत के प्रयोग में लग गया.........।

× × ×

उसने देखा कि द्रव का गहरा लाल रंग फीका पड़ता जा रहा है......

सहसा रमणी ने वीणा-विनिन्दित स्वर में कहा—"नमस्कार आचार्य !" भव्य ने सजग होकर कहा, "आशीर्वाद भद्रे ! तुम्हारा परिचय ?"

"आचार्य मुझे नहीं जानते। किन्तु जिस समय मैं गोपाल को जगाने के लिए प्रभाती गाती हूँ उसी समय आचार्य मन्दिर के पार्श्ववर्ती राजमार्ग को पवित्र करते हुए जाते हैं और मुझे गान के लिए एक पुनीत प्रेरणा मिल जाती है।"

"अहो! तुम वैष्णव मन्दिर की देवदासी, अंजलि! मैंने तुम्हारे विषय में सुना था। कहो, क्या बात है ?"

"आज फाल्गुन की पूर्णमासी है आचार्य! और नव-पत्रिका का उत्सव हम लोग आपके संघाराम में मनाने की आज्ञा चाहते हैं।

किन्तु तुम जानती हो देवदासी, उत्सवों और नाटकों में भिक्षुओं का भाग लेना वर्जित है, फिर मैं तुम्हें कैसे आज्ञा दे दूँ ? इसका उनपर बुरा प्रभाव पड़ सकता है देवि !"

"उत्सवों का बुरा प्रभाव ! आश्चर्य है देव। जीवन भर क्षण-क्षण दुःख की ज्वाला में सुलगता हुआ मनुष्य कभी उस

कष्ट की यातना को जीत कर मुसकरा पड़े, हँस दे, तो उसमें भी कोई पाप है ?"

"हाँ, है !" भव्य ने कहा—"यह उत्सव, यह आनन्द मनुष्य को जीवन की उपेक्षा सिखलाता है। मनुष्य का जीवन नश्वर है और वह अपनी इस क्षणिकता को भूल कर जीवन के काल्पनिक सुखों में डूब कर वास्तविक साधना को भूल जाता है।"

"क्या दुःख और मृत्यु यही जीवन की सीमाएँ हैं ? तुमने जीवन की बड़ी संकुचित व्याख्या बना रखी है आचार्य ! मनुष्य को इतना दुर्बल, इतना छोटा मत बनाओ भव्य ! इसमें मानव की मानवता का अपमान होता है। किन्तु तुम तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते। इसीलिए तुम मनुष्य को साधना का यन्त्र समझ सकते हो पर हमारी दृष्टि में तो साधना मनुष्य के लिए है, मनुष्य साधना के लिए नहीं ! मनुष्य साधना का उद्देश्य है, साधना मनुष्य का उद्देश्य नहीं !"

"पर देवदासी ! तुम्हारे धर्म में तो मनुष्य देवता का साधन बन जाता है, देवता की पूजा की सामग्री बन जाता है-फिर तुम मनुष्यत्व पर इतना गर्व कैसे कर सकती हो ?"

"तुमने हमें गलत समझा है आचार्य ! हमारे लिए साध्य है मनुष्य, प्रेम मनुष्यत्व की साधना है और राधाकृष्ण उस प्रेम के विकास के अवलम्ब मात्र !"

"प्रेम !" भव्य हँसे—"प्रेम की साधना !! कितना बड़ा भ्रम है तुम्हें देवि ? तुम समझती हो प्रेम तुम्हें सत्य के निकट ले जायगा !"

"हाँ आचार्य ! इसी विश्वास पर मैं जीवित हूँ। प्रेम को समझ कर जब मनुष्य उस पूर्ण सत्ता को स्नेह समर्पण कर देता है, उसी समय विश्वरूप भगवान उसके हृदय में बस जाते हैं।

उस समय प्रत्येक प्रेमी कृष्ण बन जाता है, प्रत्येक प्रेमिका राधिका बन जाती है और प्रत्येक कुंज में गूँज उठती है मनमोहन की मादक मुरली—यही प्रेम की साधना है, यही आत्मसमर्पण का पथ !”

“आत्मसमर्पण !” भव्य फिर हँस पड़े—“ठीक है—किन्तु प्रेम का विचार ही मिथ्या है अंजलि ! बिना दो के प्रेम हो ही नहीं सकता। और जिस समय एक मनुष्य अपना सब कुछ समर्पित कर देता है उस समय उसका अपना क्या रह जाता है ? कुछ नहीं। केवल अपनी लालसाओं की समाधि पर, अपनी इच्छाओं के श्मशान में सिसक सिसक कर जो मृत्युगीत वह गाता है, उसी को समझता है प्रेम ! चिता के धूम्र से मलिन अन्तरिक्ष उसे देखकर व्यंग से हँसता है। श्मशान के प्रेत अट्ट-हास करते हैं। और पागल प्रेमी ? वह समझता है संसार उसका स्वागत कर रहा है। यह है प्रेम ! शव का आलिंगन ! चिता की राख में दबे हुए अंगारों को ही तो प्रेम कहते हैं न ? इसी प्रेम के सम्बल को लेकर तुम जीवन को जीतने चलती हो—बिना सत्ता के, बिना स्थिति के, तुम जीवन को नहीं जीत सकतीं और प्रेम, आत्मसमर्पण, सत्ता को चूर चूर कर डालता है।”

“मुझे जीवन के जीतने की कामना ही नहीं आचार्य। हम जीवन को केवल प्यार करते हैं और जीवन स्वयम् हमारे सामने हार जाता है !”

“जीवन हार जाता है या तुम्हें भ्रम में डाल देता है देवि ? वासवदत्ता की कथा सुनी है न ? जीवन भर प्रेम करने के पश्चात् भी उसे मिली केवल अतृप्ति, असन्तोष और अन्त में उसे झुकना पड़ा बुद्ध के वैराग्य, बुद्ध की करुणा के सामने ! प्रेम के सामने नहीं। आओ बुद्ध की शरण अंजलि। तुम्हारी सभी कामनाओं

की सिद्धि होगी। तुम निर्वाण पाओगी।"

"रहने दो भव्य! मुझे निर्वाण की आवश्यकता नहीं। हमें बार बार इसी संसार में आना है। क्यों न इसी को स्वर्ग वना लें। और कामनाओं की सिद्धि से क्या लाभ है भव्य! कामनाओं की सिद्धि तो जीवन का अन्त है। हमारे तो जीवन का कभी अन्त ही नहीं होता क्योंकि हमारी कामनाओं की कभी सिद्धि ही नहीं होती। उनकी कभी सिद्धि ही नहीं होती क्योंकि हमारी कामनाएँ स्वयम् सिद्धि हैं। हमारा जीवन उल्लासमय है भव्य! जब तक हम जीवित रहते हैं हँसते—जब मरते हैं तो..........।

"ठहरो देवि! वासवदत्ता भी यही कहती थी...... ।"

"लेकिन आचार्य, मैं वासवदत्ता की तरह नहीं हूँ।"

"मृत्यु सबको वही वना देती है देवि!"

"वासवदत्ता मृत्यु के उद्यान के काँटों से डर गई थी, उसने वहाँ की छाया की शीतलता का अनुभव नहीं किया था। किन्तु अब देर हो रही है आचार्य; तो आपका उद्यान हम लोगों को न मिलेगा।"

"मुख्य उद्यान तो नहीं, वह सामनेवाला उद्यान तुम उपयोग में ला सकती हो!"

"धन्यवाद आचार्य!" अंजलि उठी और चली गई।

"इतना रूप और इतनी बुद्धि!"—भव्य ने मन में कहा।

"इतना तेज, इतना तारुण्य और यह विरक्ति! आश्चर्य है!" अंजलि ने सोचा।

× × ×

संध्या हो गई थी। पूर्णिमा की सफेद चाँदनी वातायन के मार्ग से झाँक कर हँस रही थी। भव्य एकाग्रचित्त से

अग्निपात्र के तापमान को संयत रखने में व्यस्त था। बाहर दूर पर सामने के उद्यान में उत्सव हो रहा था। रसाल-वृक्ष में झूला पड़ा था और लड़कियाँ गीत गा रही थीं। सहसा उस कोलाहल को चीर कर एक मीठा पर तीव्र स्वर गूँज उठा। भव्य का ध्यान भंग हो गया। यह तो अंजलि का स्वर है। वह एक गीत गा रही थी-राधा का मरण-गीत—"ओ निष्ठुर मनमोहन! तुम्हारी राधा मरणसेज पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। क्या अब भी तुम न आओगे। एक बार आओ घनश्याम! प्यार करने के लिए नहीं। केवल यह बतलाने के लिए कि प्यार झूठा है। राधा! मेरे प्यार को भूल जाओ!"

उसके बाद एक जोर का कोलाहल हुआ और उसमें अंजलि के स्वर छिप गए। उसने फिर अपने प्रयोग की ओर देखा। पात्र से सहसा लहराता हुआ धुँआ उठा और एक उबाल खाकर द्रव श्वेत हो गया। और वह चीख उठा—"अमृत! मिल गया। यह मनुष्य की जीत है!"

सहसा वातायन से आवाज आई—"अब मृत्यु निकट है, जीवन की कोई आशा नहीं!"

भव्य चौंक पड़ा "कौन कहता है मृत्यु निकट है। अब तो मनुष्य अमर बनेगा।"

लेकिन बाहर से फिर किसी ने कहा—"मृत्यु अब बहुत निकट है!"

भव्य ने बाहर झाँक कर देखा—नीचे कुछ लोग बातें करते हुए जा रहे थे। एक ने कहा—"लेकिन हुआ क्या था?"

"जब अंजलि गा गाकर देवता के लिए फूल चुन रही थी तो उसे साँपने डस लिया।"

भव्य स्तंभित हो गया। अंजलि को साँप ने डस लिया।

आश्चर्य है, अभी तो वह गा रही थी ! वह सुनो—वह तो अब भी गा रही है—"निष्ठुर! तुम्हारी राधा मरणसेज पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है । क्या तुम अब भी न आओगे ? एक बार फिर आओ निष्ठुर ! प्रेम करने के लिए नहीं ! यह बतलाने के लिए कि प्रेम झूठा है......"

भव्य ने ध्यान से देखा । उद्यान शून्य था । तो क्या सचमुच अंजलि मरणसेज पर है । क्या मृत्यु के द्वार पर खड़े होकर अंजलि ने यह गीत गाया है जिसकी प्रतिध्वनि अनजाने मेरे हृदय में गूँज रही है । वह विकल हो गया । नहीं, अंजलि को खींच ही लाना होगा मौत के मुँह से । उसने अमृत का पात्र लिया और चल पड़ा मन्दिर की ओर ! मुख्य कक्ष में, दासियों से घिरी हुई अंजलि अचेत थी । उसके पहुँचते ही दासियाँ हट गईं । अकस्मात् अंजलि ने आँखें खोल दीं । वह काँप रही थी, प्रयत्न कर बोली—

"ओह ! वासवदत्ता की मरणसेज पर अमिताभ आए हैं ?"

"आज तुम्हें जीवन की असारता मालूम हो गई न? इसीको भूलकर वासवदत्ता ने प्रेम.........

"ठहरो भव्य !" वह बात काट कर बोली—"वासवदत्ता ने प्रेम किया था मगर मरते समय बुद्ध की कृतज्ञता मोल ली, यह अच्छा नहीं किया । और बुद्ध ! बुद्ध ने उसके प्यारका तिरस्कार कर मानवता की भावनाओं का अपमान किया था और अन्त समय पर प्रेम के शव पर करुणा और दया का कफन उढ़ा कर उन्होंने जले पर नमक छिड़का था। यदि वासवदत्ताका प्रेम बुद्ध ने स्वीकार कर लिया होता तो वासवदत्ता की वह अवस्था ही क्यों होती । मुझसे तुम उसकी आशा न करो भव्य ! मैं मनुष्य की भाँति जीवित रही हूँ; मनुष्य की

भाँति मरूँगी। मुझे जीने का उल्लास रहा है; मरनेका पश्चात्ताप न होगा!"

भव्य चकित रह गए। जिस मृत्यु से वे जीवन भर डरते रहे, यह देवदासी उसे किस निर्भयता से स्वीकार कर रही है। जिस जीवन के पीछे वे इतनी साधना करते रहे उसे किस शान से इसने ठुकरा दिया। कौन सी शक्ति है इस आत्मविश्वास के पीछे?

अंजलि ने फिर आँखें खोलीं और अपना शीतल हाथ भव्यके हाथ पर रख दिया। भव्य सिहर गए पर उन्होंने वह हाथ हटाया नहीं! उन्होंने बड़े ध्यान से देखा अंजलि के मुख की ओर। उसके ओठ जहर के कारण नीले पड़ते जा रहे थे। क्या मृत्यु अंजलि को छीन ले जायगी? भव्य व्याकुल हो उठे।

"अंजलि! जाने दो!" उन्होंने कहा—"करुणा न सही, सहानुभूति न सही, क्या प्रेम की प्रार्थना पर भी तुम अमृत की दो बूँदें स्वीकार न करोगी?"

अंजलि ने हाथ बढ़ाया और अमृत का पात्र लेकर देवता की मूर्ति के चरणों पर डाल दिया। वे अमर हो गए।

"अमृत देवताओं के लिए है, मनुष्य के लिए नहीं प्रियतम! तुम मृत्यु से डरते हो? मृत्यु जीवन की प्रेरणा है, विरह प्रेम की उत्तेजना है, दुःख सुख का विधाता है भव्य! जानते हो, कुमुदिनी प्रातःकाल इसलिए नहीं कुम्हला जाती कि चंद्र उससे दूर हो जाता है, चाँद की किरणें तो उसके हृदय में खेलती ही रहती हैं; वह मुरझाती है इसलिए कि साँझ को फिर प्रियतम का सुखद स्पर्श उसे प्राप्त हो। यही प्रेम की साधना है। जन्मजन्मान्तर तक यही क्रीड़ा चलती रहती है भव्य!

सहसा वह चुप हो गई और उसने अपना सिर भव्य के कन्धों पर टेक दिया।

भव्य ने धीरे से पुकारा, "अंजलि!" पर वह मूक थी। वह काँप उठा आशंका से! उसने ध्यान से देखा। कुमुदिनी मुरझा गई थी। वह पागल सा हो उठा—झुक कर उसने अंजलि के विपाक्त अधर को चूम लिया और चीख उठा—"मैं कहता था! मैं कहता था! प्रेम शव का आलिंगन है, श्मशान की साधना है। जन्मजन्मान्तर! यह भ्रम है, केवल भ्रम! कौन कहता है प्रेम मनुष्य को अमर बनाता है? मनुष्य को अमर बनाती है निर्ममता, निरीहता—अमर हैं ये पत्थर के देवता! दुःख, सुख, वेदना, आनन्द, जीवन और मृत्यु से उदासीन इनकी पथरीली आँखों में आँसू नहीं आते—आह! कितने शान्त हैं ये पत्थर, दुःखसे परे, सुख से ऊपर! मैं प्रेम नहीं कर सकता। मैं भी पत्थर बनूँगा। देवता! पत्थर के देवता! मुझे भी अपनी तरह पत्थर बना लो! परन्तु मैं तुम्हारी पूजा काहे से करूँ? हृदय तो मेरे पास है ही नहीं! रहा भी हो तो पहले ही स्पर्श में चूर चूर हो चुका। लेकिन मस्तिष्क है—उसे तुम्हारे चरणों पर रखता हूँ देवता! मुझे पत्थर बना लो।" और आवेश में भव्य ने अपना सर मूर्ति के चरणों पर पटक दिया। अंजलि का शव शान्त पड़ा था और देवदासियों की अर्द्ध-मौन सिसकियाँ वातावरण में तड़प रही थीं—

———

स्वर्ग और पृथ्वी

०

५

कल्पना ने आश्चर्य में भर कर वातायन के दोनों पट खोल दिए। सामने अनन्त की सीमा को स्पर्श करता हुआ विशाल सागर लहरा रहा था। तट पर बिखरी हुई ऊषा की हलकी गुलाबी आभा से चाँदनी की चंचल लहरें टकरा कर लौट रही थीं। प्रशान्त नीरवता में केवल चाँदनी की लहरों का मन्द मर्मर गम्भीर निश्वासें भर रहा था।

फिर यह स्वर कैसा? कल्पना विस्मय से स्तब्ध थी। यह कल्पना का पहला अनुभव था। चाँदनी के सागर के तट पर, स्वर्ग के एक उजाड़ कोने में, हलके सुनहरे बादलों का एक प्रासाद था। शैशव से ही कल्पना उसमें निवास करती थी। पर वह स्वर्ग में रहते हुए भी स्वर्ग से अलग थी; वह एकान्त पर विश्वास करती थी। उसके प्रासाद के चारों ओर का वातावरण इतना रहस्यमय और दुर्भेद्य था कि क्रीड़ारत चंचल

देवकुमार भी उधर जाने का साहस न करते थे। कल्पना अपने सूनेपन की रानी थी। हलकी नीलो आभावाले वातायन-पटों को खोलकर वह न जाने कब तक निहारा करती थी, सामने फैले हुए चाँदनी के अनन्त सागर को, उसमें लहराती हुई चंचल लहरों को। कभी कभी स्वर्ग के घाटों पर देवियाँ मंगल-कामना से प्रेरित होकर बहा देती थीं कुछ जलदीप, जो लहरों पर उठते-गिरते, जलते-बुझते उसके वातायन के सम्मुख से बह जाते थे और उन्हें देखते ही वह भयभीत होकर पट बन्द कर लेती थी। चंचल लहरों का मन्द स्वर हलके-हलके झकोरों के साथ थपकियाँ देता था। जलपक्षियों का मधुर सुकोमल संगीत उसे लोरी सुनाता था और वह पलकें मूँद कर सो जाती थी।

किन्तु आज का सहसा गूँज उठनेवाला यह स्वर विचित्र था। उसने कल्पना की कि यदि इस सागर का तट ऊषा की हलकी गुलाबी आभा से न निर्मित होकर प्रखर धूप के काँपते हुए पीलेपन से बना होता और चाँदी की रेशमी लहरें कहीं उससे आकर टकरातीं तो जितना करुण क्रन्दन उस वातावरण में छा जाता—कुछ वैसी ही करुणा इस स्वर में भी है। पर इस स्वर का उद्गम कहाँ से है ? इस स्वर की लहर-लहर जैसे भिगो रही थी कल्पना के मन को एक आर्द्र उदासी से। वह वातायन से टिक कर बैठ गई। उसकी आँखें शून्य गति से ढूँढ़ने लगीं—चाँदनी के अनन्त विस्तार में उस अनन्त रहस्यभरे गायक को। स्वर लहराता रहा। वह उसमें खो गई। धीरे धीरे कुछ चंचल आँसू उसके नयनों से झाँकने लगे।

सखियाँ उद्विग्न हो उठीं। "कुमारी!" उन्होंने व्याकुल होकर पुकारा। कुमारी की तन्द्रा भंग हुई। उसने चौंक कर उदासी से पूछा—"यह कैसा स्वर है वेदना ?"

वेदना बोली—"जाने भी दो कल्पना! आज क्या तारों के हार न गूँथोगी?" कल्पना बोली—"वेदना! मेरे प्रश्न का उत्तर दो! तारों के हार तो नित्य गूँथती हूँ सखी! दुष्ट तारे कुम्हलाते भी तो नहीं। देखो न, असंख्यों हार पड़े हैं। आज न जाने क्यों मन करता है कि कोई ऐसा होता जिसके चरणों में इन हारों को समर्पित कर पाती। जाने दो इन हारों को वेदना। यह स्वर कैसा है?"

वेदना ने उत्तर न दिया।

"बोलो वेदना! मेरे मनकी उत्सुकता विकल हो रही है। ऐसा स्वर तो पहले कभी नहीं सुना था।"

वेदना ने देखा अन्य सखियों की ओर, और वे एक विचित्र आशंका से भर गईं। वेदना किसी प्रकार प्रयत्न कर बोली—"यह स्वर! यह कुछ नहीं रानी! एक देवकुमार निर्वासित कर दिया गया है स्वर्ग से। वही संभवतः गाता हुआ इस ओर आ निकला है।"

"देवकुमार! कल्पना के देश की नीरवता और एकान्त को भंग करने का साहस उसे कैसे हुआ?" कल्पना ने किंचित् रुष्ट होकर पूछा।

"वह ऐसा ही दुस्साहसी है कुमारी! स्वर्ग के निषिद्ध स्थानों में उसने प्रवेश किया, तारों के फूलों में उसने अपना सौरभ भर दिया, अपने गीतों में उसने किरणों के तीर चलाने प्रारम्भ किए। इसी से तो देवराज ने उसे निर्वासन का दंड दे दिया। किन्तु विश्वास करो कुमारी! उसके मस्तक पर चिंता की रेखा भी न उभरी। कुछ ठिकाना है इस दुस्साहस का?"

"स्वर्ग के नियमों का उल्लंघन! मेरे एकान्त को सहसा भंग करने का साहस!" कल्पना क्रोध से काँप रही थी। एका-

एक झकोरों के साथ गायक का तीव्र स्वर कक्ष में गूँज गया। कल्पना के मन का क्रोध जैसे एकाएक धुल गया हो। परन्तु फिर भी प्रयत्न कर वह तीव्र स्वर में बोली, "बुलाओ उस उद्दंड देवकुमार को—"

वेदना काँप गई—"नहीं, नहीं, कुमारी! वह यों ही आया है, यों ही चला जायगा।"

कल्पना बोली—"मैं उसे दंड दूँगी, जाओ।"

"मैं डरती हूँ कुमारी! उसका प्रवेश अमंगलकारी न सिद्ध हो। उसके स्वरों में इन्द्रजाल की लहरें नाचती हैं—उसके नयनों में जादू की ज्योति चमचमाती है।"

"कल्पना इतनी दुर्बल नहीं है—जाओ।"

× × × ×

"तुमने यह दुस्साहस क्यों किया देवकुमार?"

देवकुमार कुछ सोच रहा था।

"मेरे प्रश्न का उत्तर दो, दुस्साहसी युवक!"

"पर तुम्हारा प्रश्न क्या है?" देवकुमार ने चौंक कर पूछा।

"इतनी उच्छृङ्खलता! मैंने अभी तुमसे कुछ पूछा था?" कल्पना क्रोध से काँप गई। "क्षमा करो देवि! मेरा मन तुम्हारे स्वरों की मिठास में ही डूब गया था। अर्थों की ओर मैंने ध्यान ही न दिया"—देवकुमार किंचित् मुसकराया—"जिस प्रश्न की ध्वनि इतनी मीठी है, उसका तात्पर्य कितना मादक होगा! फिर से प्रश्न पूछो कुमारी! मन होता है तुम सदा इस प्रकार प्रश्न पूछती जाओ और मैं अनसुनी करता जाऊँ।"

सखियाँ अपने को वश में न रख सकीं, खिलखिलाकर हँस पड़ीं। रानी के मस्तक की रेखाएँ सुलझ गईं। गालों पर दो गुलाब चुपके से खिल गए। पर वह फिर सम्हल गई।

"यह दुस्साहस और फिर भी यह वाचालता एक देव-कुमार को शोभा नहीं देती।" कल्पना के स्वर भी जैसे उखड़ रहे थे।

"देवकुमार! अब मैं 'देवकुमार' नहीं हूँ देवि! मेरी व्यक्तिगत संज्ञा 'प्रेम' है और प्रेम आसन को नहीं सह सकता, चाहे वह स्वर्ग का आसन ही क्यों न हो। देवराज ने अपने अधिकार को अक्षुण्ण रखने के लिए प्रेम को नियन्त्रण में रखना चाहा और मैंने विद्रोह कर दिया। मुझे निर्वासन का दंड मिला। निराश्रित होकर चल पड़ा। सुना था तुमने शैशव से ही अपने को स्वर्ग से दूर रखा है। सोचा था, तुम्हारे यहाँ आश्रय मिलेगा पर तुम दंड दोगी। अच्छा है, दंड ही दो। तुम्हारा दंड भी कम सुखद न होगा कुमारी!"

हँस पड़ी कुमारी। कब तक वाह्य कठोरता के आडम्बर में मन के नवीन स्पन्दन को ढाँक रखती—"तो तुम आश्रय की इच्छा से आए हो! कल्पना तुम्हें निराश न करेगी प्रेम!" "वेदना, इनका प्रबन्ध करो।"

वेदना किसी भावी अमंगल की कल्पना से काँप उठी।

× × × ×

"देवराज पधारे हैं कुमारी!"

"आने दो।"

"मैंने कहा था प्रेम का आगमन अमंगल से पूर्ण है!" वेदना ने सोचा।

देवराज आए; नयनों में रोष था, गति में संयम।

"कल्पना, तुमने एक विद्रोही को आश्रय दिया है। उसने निषिद्ध स्थानों में प्रवेश किया है—स्वर्ग का शासन भंग किया है।"

"निषिद्ध स्थान जैसे?"

"जैसे देवबालाओं के अज्ञान हृदय, मृगशावकों के भोले नयन और तरुणों की चंचल गति—"कल्पना केवल किंचित् मुसकरा दी—"और कल्पना, उसने तुम्हारे वातावरण की नीरवता और एकान्त को भी भंग किया है—"

"कल्पना इस नवीन परिवर्तन का स्वागत करती है। स्वर्ग के इस विभाजन और अन्यायय शासन के विरोध में प्रेम ने समता और स्वतंत्रता की पुकार की है और कल्पना उससे सहानुभूति रखती है।"

"क्या मेरा शासन अन्यायय है?" देवराज उत्तेजित हो उठे।

"यह कहना मेरी अशिष्टता होगी और न कहना असत्य।" कल्पना शान्ति से बोली।

देवराज खीज गए—"अच्छा, अभी तो प्रेम को केवल निर्वासन मिला था—कल प्रभात में उसे प्राणदंड दिया जायगा। मैं जाता हूँ।"

× × × ×

कल्पना सिसक रही थी। वेदना रुँधे गले से बोली—"चुप रहो कुमारी! मैंने पहले ही कहा था, अनजान परदेशी से इतनी ममता बढ़ानी उचित नहीं है कल्पना!"

"वेदना!" कुमारी सिसकियाँ रोककर बोली—"कल्पना करो कि एक पक्षी जो जन्म से निराधार अन्तरिक्ष में उड़ रहा हो और दूर दूर तक केवल शून्य ही उसके परों को सहारा दे रहा हो—गति दे रहा हो और चुपके चुपके उसके परों में थकान भी भर रहा हो—यदि उस पक्षी के थके हुए परों को विश्राम के लिए किसी सुकोमल टहनी का आसरा मिल जाय; और, और दूसरे ही क्षण प्रबल झंझावात झकझोर कर उस टहनी को

तोड़ दे तब वह पक्षी क्या करेगा ?"

"उसका वश ही क्या है कुमारी! उसके थके हुए पर उड़ने में असमर्थ होंगे। उसी टहनी के साथ साथ मुरझाए हुए फूल की भाँति वह पक्षी भी टूट कर गिर जायगा कुमारी !" वेदना ने निराश स्वर में कहा।

"वेदना ! हाँ ठीक है वेदना !" कल्पना को जैसे कोई नई बात सूझ गई थी—"मेरी टहनी टूट जायगी सखी और मैं—मैं भी उसका साथ दूँगी।"

वेदना कुछ समझ न पाई।

× × × ×

"प्रेम !"

"हाँ कुमारी !"

"तुम्हें अपना भविष्य ज्ञात है न !"

"ज्ञात है रानी !" और प्रेम हँस पड़ा।

"तुम हँस रहे हो प्रेम ?" रानी के नयन भर आए।

"तुम रो रही हो, छिः ! उधर देखो कुमारी—" प्रेम ने चाँदनी के सागर की ओर संकेत किया। चाँदनी की लहरें प्रासाद से टकराकर लौट रही थीं।

"मैं नहीं समझी प्रेम !"

"नहीं समझीं ! देखो युगयुगों से कितनी लहरें आकर प्रासाद के इन पत्थरों से टकराती हैं, पर प्रासाद के पत्थर अटल हैं। मुझे भी तुम एक नश्वर लहर समझना कुमारी, जो अनन्त के किसी कोने से उमड़ी और टकराकर दूसरे ही क्षण लौट गई। ऐसी नश्वर लहरियों को पत्थर कभी भूल कर भी याद नहीं करते।"

"पत्थर ! मैं पत्थरों की बात नहीं कर रही हूँ प्रेम। उधर

देखो, उसे भी समझने का प्रयत्न करो—"

प्रेम ने देखा। वेदना स्वर्ण-कलश में चाँदनी भरकर महल की ओर लौट रही थी। हलकी गुलाबी सिकता में उसके नन्हें नन्हें पैरों के चिह्न बनते जाते थे।

"देखा! जो एक बार भी इसे कुचलकर चलता है, यह सिकता उसके चरणचिह्नों को अपने हृदय में कितने स्नेह से अंकित कर लेती है कुमार!"

"ठीक है कुमारी। पर देखना, कल तक पवन के झकोरे और चाँदनी की लहरियाँ इसे समतल कर देंगी। यदि किसी पथिक की स्मृति के पद-चिह्न कहीं सिकता पर अंकित हो गए हों तो समय के झकोरे उन्हें समतल कर ही देंगे। इसमें शोक क्यों करती हो कुमारी!"

"मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ?" कल्पना बोली।

पास के सरोवर के नील जल में कमल खिल रहे थे, तारों के कुछ भौंरें मकरन्द-पान कर रहे थे। रानी ने एक कमल तोड़ा और प्रेम के पास फेंक दिया। भ्रमर उड़ा नहीं, मकरन्द से चिपटा रहा।

"इसका क्या उत्तर है प्रेम!"

"इसका उत्तर! तुम सम्भवतः पूछ रही हो कि कमल के टूटने पर भी भ्रमर उड़ा नहीं। पर रानी, ये तुम्हारे तारों के कमल अमर हैं। यदि ये नश्वर होते और किसी नश्वर क्षण में इन पर छा जाता पीलापन, उड़ जाता इनका मकरन्द, तो भ्रमर भी उड़ कर दूसरे कमल पर जा बैठता। कमल सूखते रहते हैं रानी, भ्रमर सदा आश्रय ढूँढ़ लेते हैं।"

कल्पना निरुत्तर हो गई। प्रेम हँस पड़ा।

"कितनी भोली हो तुम कुमारी! उत्तर देना भी न आया।

कहो—कल्पना का सौन्दर्य वास्तविकता से अधिक स्थायी होता है—कहो।"

"हाँ!" कल्पना को जैसे उत्तर मिल गया—"कल्पना का सौन्दर्य वास्तविकता से अधिक स्थायी होता है कुमार। प्रेम की लहरों के टकराने पर कल्पना के पत्थर टूट जाते हैं—कल्पना की सिकता पर प्रेम के पदचिह्न अमर होते हैं, प्रेम के कमल के सूखने पर कल्पना के भ्रमर उड़ नहीं जाते, वे उसी के साथ टूट जाते हैं कुमार! कल्पना को प्रेम ने नया जीवन दिया है और कल्पना मृत्यु में भी प्रेम का साथ देगी।"

"मृत्यु? प्रेम ने न शासन में जीवित रहना सीखा है और न प्राण देना। कल्पना की शाखाओं पर किरणों की रेशमी डोर में झूलने की अपेक्षा मैं उन्मुक्त आकाश की स्वतंत्र छाया में, चाँदनी की लहरों के साथ मृत्यु-क्रीड़ा करना अधिक उचित समझता हूँ। इन लहरों को चीरकर सागर के उस पार पहुँचना कितना सुखद होगा। और यदि डूब भी गया, तो यह सन्तोष होगा कि कल्पना रानी के सागर ने ही मुझे आश्रय दिया है। और तव उस पार का आनन्द मुझे मझधार में ही मिल जायगा। किन्तु तुम यहीं रहो रानी। तुम्हारा सुख मेरे साहस की प्रेरणा होगा—"

"तुम मेरे आश्रित हो न! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी, तुम्हारी रक्षा मे सन्नद्ध होकर। चाँदनी की लहरें कल्पना रानी का शासन मानती हैं। अपने कोमल स्पर्श से सहारा देकर वे तुम्हें ले चलेंगी उस पार। आओ!"

दोनों सागर की ओर वढ़े—सागर स्वागत के उल्लास में हिलोरें लेने लगा—कल्पना ने पैर बढ़ाए। सहसा प्रेम ने उसे पीछे खींच लिया और कहा—ठहरो!..........."

×

नीचे पृथ्वी पर,

साँझ के गुलाबी बादलों में आँखमिचौनी खेलते हुए विहगदल के रव को अनसुना करते हुए, पेड़ों की काँपती छाया में, चला जा रहा था एक पथिक अपने गेह को। रात घिर आई थी, बादल छा गए थे। एक घने वृक्ष के तले वह रुक गया, आश्रय के हेतु। हरे झुरमुट के पास, नगर के एक उच्च गृह के वातायन से झाँक रही थी एक बालिका। अँधेरा बढ़ रहा था, बादल छा रहे थे।

पर उस समय पृथ्वी पर न प्रेम था, न कल्पना।

बालिका के मन में, वन-वन भटकनेवाले एक पथिक की याद तो आई पर उसके मनमें कोई पीड़ा न कसकी—उस समय पृथ्वी पर प्रेम न था।

पथिक के मन में एक अनजान पीड़ा तो कसक गई पर उसे कोई याद न आया। उस समय पृथ्वी पर कल्पना न थी।

दोनों मूक थे, दोनों के अभाव घुटते रहे।

× × × ×

प्रेम ने कल्पना को पीछे खींच लिया। "ठहरो कल्पना! उधर पृथ्वी की ओर तो देखो—" कल्पना ने देखा और दोनों के मन की बेबसी को समझकर काँप गई।

"इतनी विवशता!" प्रेम बोला "हम दोनों के अभाव से अभागा मानव न समझ पाता है अपने मन की हलचल को और न व्यक्त कर पाता है उसे शब्दों में। कल्पना! क्या प्रकाश की दो लघु बूँदों के समान चाँदनी के इस अनन्त सागर में हम सदा के लिए घुल जायँ? क्या प्रेम इतना दुर्बल है? क्या कल्पना इतनी शक्तिहीन है? नहीं रानी, आओ! हम तुम दो लघु बूँदें हैं, पर मानव-हृदय का आधार हमें सागर से भी अधिक विस्तार दे देगा—कल्पना, आओ।"

स्वर्ग के देवताओं ने देखा—

ज्योति के दो पैने तीरों की भाँति कल्पना और प्रेम चले पृथ्वी की ओर—नारी के हृदय में समा गया प्रेम और पुरुष के हृदय में समा गई कल्पना।

"कल्पना से विलग रहनेवाली वेदना के ताप को तुम न सह पाओगे देवताओ!" और वेदना भी समा गई मनुष्य के हृदय में।

"जहाँ कल्पना है, जहाँ प्रेम है, कोमलता और सरसता भी वहीं रहेंगी स्वर्ग के पत्थरो!" और स्वर्ग के अमर सुनहले बादल रिमझिम कर बरस पड़े पृथ्वी पर।

वातायन से झाँकती हुई बालिका ने देखीं, आकाश से झरती हुई बड़ी बड़ी बूँदें। उसका परदेशी पथिक न जाने किस उजाड़ पथ पर भींग रहा होगा। क्या जाने पथिक को भी कभी उसकी याद आती है या नहीं। उसके नयनों से प्रेम उमड़कर बादलों से होड़ लेने लगा। टप-टप आँसू चू पड़े।

पथिक तरु के नीचे बैठा था, अन्धकार में। तरु-शिखर के पल्लव भींग चुके थे। कुछ बड़ी-बड़ी बूँदें पल्लव के झीने पटों को एक एक कर खोलती हुई चू पड़ीं। पथिक की कल्पना के पल्लवों के कोमल आश्रय से जैसे ये बूँदें चू पड़ती हैं—वैसे ही उसके नगर में, किसी बालिका की पलकों से चंचल आँसू चू पड़ते होंगे और खो जाते होंगे प्यासी धरती में!

दोनों के मन में वेदना कसक उठी।

और—प्रथम बार संसार में फूट पड़ी भाषा। पथिक ने बादलों के संगीत के साथ गाना प्रारम्भ किया एक विरह-गीत। प्रेम की वह पहली कविता जब अम्बरपटों को चीर कर पहुँची स्वर्ग में, तो कहा जाता है कि देवता भी लालायित हो उठे थे पृथ्वी पर आने को।

किन्तु स्वर्ग, स्वर्ग है और पृथ्वी, पृथ्वी!!

कलंकित उपासना

मनुष्य ईश्वर से पूर्णता का वरदान माँगने गया।

ईश्वर अपने कुटिल ओठ दबा कर मुसकराया और बोला—"मेरी उपासना करो, मैं तुम्हें पूर्णता का वरदान दूँगा।"

मनुष्य ने असीम श्रद्धा से पुलकित होकर भगवान के चरणों पर अपना रजत मस्तक रख दिया और देर तक उपासना करता रहा।

थोड़ी देर बाद मनुष्य ने सर उठाया और भगवान की ओर प्रार्थनाभरी निगाहों से देखा।

भगवान ने अपनी नील कमल-सी पलकें उठाईं और मौत के रेशों से बुनी हुई मुसकराहट बिखेर कर मनुष्य के मस्तक पर लगी हुई अपनी चरण रज की ओर संकेत कर कहा—"देखो तुम्हारे मस्तक पर कलंक है। अभी तुम पूर्ण नहीं हो सकते, और उपासना करो।"

मनुष्य ने फिर चरणों पर सर रखा। चरणरज का चिह्न और भी गहरा हो गया।

उसने फिर सर उठाया ;

भगवान ने फिर कहा—"तुम्हारा कलंक तो और गहरा हो गया।"

उसने फिर पैरों पर सर रख दिया।

तब से आज तक उपासना की अनन्यता और कलंक की गम्भीरता का क्रम बदस्तूर जारी है।

कवि और जिन्दगी

७

"गाओ कवि !" अनुरोध भरे स्वर में राजा बोला—"गाओ, तुम्हारा पहला ही स्वर जैसे हर लेता है जीवन की सीमाएँ, पहुँचा देता है चाँदनी के लोक में, जहाँ कल्पना फूलों से शृंगार कर अतिथियों का स्वागत करती है। मैं भूल जाना चाहता हूँ यह संघर्ष, क्षण भर को मुझे खो जाने दो मधु के उफान में, अधरों की कोमलता में, नयनों की बंकिमता में—गाओ……"

कवि मूक था।

राजा पात्र से एक घूँट पीकर फिर बोला, उसका स्वर भारी हो चला था—"क्या नहीं गाओगे कवि ? बोलो, यह विस्मरण की वेला है मित्र ! मैं भूल जाना चाहता हूँ अपनापन; मैं डूब जाना चाहता हूँ मदिरा की इन हलकी लहरियों में, और तुम्हारी कविता का स्वर मदिरा से अधिक नशीला है,

अंगूरों से अधिक रसीला है। अपने स्वरों की नौका पर मुझे ले चलो उस तट पर मेरे माझी ! गाओ !"

कवि फिर भी मूक था।

"तुम क्यों मूक हो ?" राजा का स्वर कर्कश हो चला था और उसमें अधिकार की चेतना गरज उठी थी। "बोलो ! बोलो !" राजा ने अधीर होकर मधुपात्र फर्श पर पटक दिया। सामने बैठी अस्तव्यस्त कामिनी चौंक उठी, सजग हो उठी।

"नहीं गाओगे ? राजसभा के टुकड़ों पर पलनेवाले क्षुद्र कवि ! राजा की छोटी-छोटी इच्छाओं का अपमान !"

कवि तिलमिला उठा—

"बस महाराज !" उसकी आँखों से तारे टूट रहे थे, उसके स्वरों में तूफान गरज रहा था—"कविता वासना की क्रीत दासी नहीं है महाराज और न कवि किसी की इच्छा का गुलाम ! रागरंग के वातावरण में गान घुट जाते हैं राजन् ! मदिरा के सौरभ में कविता कुम्हला जाती है। वासना की शिलाओं से टकरा कर स्वर टूट जाते हैं। चाँदी के टुकड़ों पर मैं कविता की हत्या नहीं कर सकता !"

कवि चला गया···।"

× × × ×

मंत्री ने एक अर्थपूर्ण दृष्टि डाली कवि पर और बोला—"कवि, तुम्हारे गीत महान हैं और उनकी योजना के लिए महान पृष्ठभूमि की आवश्यकता है कलाकार ! तुम्हारे गीतों की प्रतिध्वनि राजमहलों की विशाल प्राचीरों में ही शोभा देती है। झोपड़ियों के अँधेरे में उलझ कर तुम्हारे हृदय का सन्देश घुट जायगा कवि !"

"गलत, झोपड़ी-झोपड़ी, गाँव-गाँव, नगर-नगर के करोड़ों निर्धनों के मन में राजा के प्रति जाग उठनेवाला यह असन्तोष,

यह विद्रोह कितनी बड़ी और कितनी सशक्त पृष्ठभूमि है मेरे सन्देश की, यह तुम नहीं जानते। यह मैं समझ रहा हूँ, और उसी दिन से लगता है जैसे उनकी पसलियों में हहरानेवाला वह तूफान मेरे स्वरों में भर गया है!"

"लेकिन ध्यान रखो कवि! तूफान कहीं तुम्हारे गीतों का सौन्दर्य न उड़ा ले जाय। जानते हो कवि—सौन्दर्य नियमों में बँधा होता है, ध्वंसात्मक विद्रोह काव्य के सौन्दर्य को चूर-चूर कर देता है। मैं कहता हूँ आओ, अपने स्वरों के जादू से राजा को जीत कर तुम कुछ भी कर सकते हो। राजशक्ति के साथ रहने में ही तुम्हारा कल्याण है!"

"मंत्रिवर!" कवि हँस दिया, "कवि और राजनीतिज्ञ में अन्तर होता है। कवि की आँखों में साँप की आँखों का छल नहीं होता और न वह हर क्षण रूप ही बदल सकता है। कविता वंचना का षड़यन्त्र नहीं, आत्मा की ईमानदार आवाज होती है मंत्रि!"

"यह राजशक्ति की उपेक्षा है!"

"कविता का आत्मसम्मान राजशक्ति को कुचल कर चलता है।"

"सावधान! तुम अपने भविष्य पर अंधकार का आवरण डाल रहे हो!"

"भविष्य! क्या गुलाम देश में भी कविता का कोई भविष्य होता है! पींजरे की तीलियों में कल्पना की उड़ान बँध जाती है। गुलामी में कविता के प्राण सिसक कर रह जाते हैं। बची अधर नियन्त्रित गति, सीमित विचार कविता के स्वच्छन्द विकास के लिए अभिशाप होते हैं। इस नाते कवि की वाणी का प्रथम स्वर होता है विद्रोह!"

"कवि !" राजमंत्री कड़क कर बोले और फिर जलती हुई आँखों से कवि की ओर देखा–"जाओ ! अभी जाओ यहाँ से !"

कवि उद्विग्न था। उसकी स्वतंत्र आत्मा बंधनों को नहीं सह सकती थी। गुलामी पाप है, वह छोड़ देगा गुलामी के देश को !

सन्ध्या के डूबते हुए सूरज ने देखा—पास के पर्वत की ऊँची-नीची पगडंडियों पर अन्यमनस्क कवि अपनी वीणा लेकर चला जा रहा था नगर से दूर। दूर, गुलामी से दूर ! सुदूर वन प्रान्तर ने बाँहें खोल कर कवि का स्वागत किया। कवि ने एक पर्णकुटी बनाई और वहीं रहने लगा।

अपने देश-निर्वासन की स्मृति में कवि ने बोया था एक वट-पादप। वह बढ़ कर तरुण हुआ, शाखाएँ फैलीं, उनमें जवानी के लाल डोरे झूलने लगे, और, और एक दिन उन्होंने झुक कर पृथ्वी चूम ली।

पृथ्वी चूम ली ! कवि के मन में सहसा एक विचार बिजली की तरह चमक गया। क्या अब भी आजादी ने उसके देश को न चूमा होगा। नहीं, उसका देश अब स्वतंत्र हो गया होगा। वहाँ के उन्मुक्त आकाश में एक नवीन शक्तिशाली जीवन का सृजन हो रहा होगा। वहाँ के फूल आजादी से फूलते होंगे और उनका सौरभ आजादी के वातावरण में गमक उठता होगा। वहाँ के निवासी गौरव से शीश ऊँचा करके चलते होंगे—वहाँ की बालिकाएँ आजादी के गीत गाती होंगी। वह व्याकुल हो उठा अपने देश जाने को······।

पर उसका देश बदल चुका था। वसन्त का अन्त हो रहा था। चारों ओर सुनहले खेत पके खड़े थे। उसने दृष्टि दौड़ाई पर कोई मनुष्य न दीख पड़ा। हाँ, कुछ यंत्र आए और उन्होंने

खेत रौंद कर क्षण भर में पृथ्वी साफ कर दी।

कवि वहाँ से चला आया। नगर में उसने देखा पहले का उन्मुक्त वातावरण समाप्त हो चुका था। मनुष्य काम में पिस रहा था। सन्ध्या आई; विश्राम का सन्देश देनेवाली रंगीन सन्ध्या। नगर बिजली से चमचमा उठा। दिन भर काम से थके हुए लोग शराब के प्यालों में, रूप के बाजारों में अपनी थकावट उतारने लगे।

कवि का मन भर आया। क्षण भर के लिए उसकी आँखों में नाच उठी वनप्रान्तर की संध्या, जब पश्चिम की फूल पत्तियों में भर जाती है एक सिहरन, नीड़ों में हँस उठता है जीवन का स्पन्दन और डालों में गूँज उठते हैं विहगों के गान! और यहाँ, यहाँ सन्ध्या है पशुत्व के विकास का समय। उसके देश-वासियों ने राजा से स्वतंत्रता पाई, पर उसकी संस्कृति के गुलाम बन गए। यह आजादी है या आजादी के शव पर गुलामी का कफन। इस श्मशान में गीतों की साधना असंभव है।

कवि लौट आया अपनी कुटी में। कवि का हृदय टूट चुका था। राजशक्ति की उपेक्षा उसका विद्रोह जगा सकती थी पर जनता की उपेक्षा ने उसके हृदय पर जो आघात पहुँचाया उसके कारण उसकी कविता घुट कर रह गई। कभी उसके देश की याद उसकी पलकों को भिगो जाती थी, कभी आजादी की चाह उसकी सिसकियों में हँस पड़ती थी, पर वह अब गीत न लिख पाता था। उसकी वीणा एक ओर पड़ी थी।

हर साल वसन्त आता था और वसन्ती बयार उसके मन को रुला जाती थी। पूरब से आनेवाले विहगों से वह पूछता था अपने देश की दशा और उत्तर में वे करुण गीतों से गुँजा देते थे डालों के झुरमुट को।

आसाढ़ आते ही पुरवैया बहती थी और कवि प्रफुल्ल हो उठता था। यह पवन आ रहा है उसके देश से, उसके देश की बालिकाओं के केशपाश को अस्तव्यस्त करता हुआ। यह पवन उसके लिए एक नवीन सन्देश लाता था और उसके मन में कसक उठती थी अपने देश की याद।

वर्षों के बाद एक बार जेठ-बैसाख के झुलसे पेड़ खड़े थे, आसाढ़ की प्रतीक्षा में! आसाढ़ आया पर पूरब के आकाश में रसीली घटाएँ न लहराईं। सावन आया पर रिमझिम बूँदें पल्लवों से अठखेलियाँ करने न आईं! फूलों ने प्यासे नयनों से देखा गगन की ओर, पर वहाँ छाया हुआ था भयंकर अन्धड़!

कवि का मन एक अमंगलकारी आशंका से भर गया। क्या उसके देश का सागर इतना नीरस हो गया कि वहाँ से बादल भी नहीं उठते? क्या वहाँ का वातावरण इतना जड़ हो गया कि वहाँ से पुरवैया भी नहीं लहराती?

कवि वृद्ध हो चुका था। पर उसने सोची एक बार फिर अपने देश की ओर चलने की। काँपते हुए हाथों से उसने अपनी वीणा उठाई और डगमग कदमों से वह चल पड़ा अपने देश की ओर!

पूर्व में ऊषा दोनों करों से गुलाबी आभा बिखेर रही थी, पर नगर-द्वार पर नियमित रूप से बजनेवाली शहनाई मूक थी। तरु की डालों पर चहकनेवाले विहग अदृश्य थे। चारों ओर के खेतों में धूल उड़ रही थी।

दूर दूर तक फैली हुई नीरवता और सुनसान में कहीं विशालकाय लौहयंत्र खड़े भयंकर अट्टहास कर रहे थे। पर इस देश के निवासी क्या हुए?

कवि ने देखा—पास था एक वृक्ष, पर उसकी पत्तियों पर

विचित्र पीलापन छाया था। उसने अपनी अँगुलियों से छुआ उन्हें और वे टूट कर गिर पड़ीं।

इन पत्तियों की कोमलता कहाँ गई ?

यंत्रों के पास कवि ने देखीं कुछ मूर्त्तियाँ। क्या यह उस देश की निर्जीव कला है ? किन्तु इतनी मूर्तियाँ मार्गों पर खेतो में—क्या ये उस देश के निवासी ही तो नहीं हैं ?

पर कहाँ गई इनमें से जीवन की गति ?

बिजली की तरह कवि के मन में एक विचार चमक गया। विज्ञान ! प्रकृति की उपासना। हाँ, मानव ने हार मान ली थी बुद्धि के सामने और बुद्धि ने छीन लिया था उसके मन का उन्मुक्त उल्लास। विज्ञान ने बना दिया था मनुष्य को पत्थर सा कठोर। विज्ञान के सहारे मनुष्य ने पा ली थी अमरता, पर ऐसी अमरता जिसे देख कर एक बार मौत भी काँप उठी होगी।

कवि की आँखों में आँसू छलक आए ! काँपते हुए हाथों से उसने उठाई अपनी वीणा और रुँधे गले से गाना प्रारम्भ किया एक करुण गीत। वर्षों बाद कविता उमड़ पड़ी।

नगर के निःशब्द प्राचीरों में उसके गीतों की प्रतिध्वनि गूँजने लगी। सूखी हुई डालों में उसके स्वर लहराने लगे। कवि की तानों के साथ साथ पूरब से बहने लगे पुरवैया के झोंके। कवि के लहराते स्वरों के साथ साथ आकाश में लहराने लगीं काली घटाएँ। कवि के आँसुओं के साथ साथ पेड़ों पर, पत्तियों पर, फूलों पर, बरस पड़ीं पावस की रिमझिम बूँदें।

गीत का स्वर चढ़ते ही झूलती हुई डालों से कूक उठी उल्लास में भर कर एक काली कोयलिया। चारों ओर के नीरव वातावरण में जैसे एक नई हरियाली छा गई। स्वर गूँजता रहा।

पर कवि का अभ्यास छूट चुका था। उसका स्वर उखड़ने लगा। उसने कलेजा लगा कर फिर प्रयत्न किया। सहसा पत्थर की मूर्तियों में स्पन्दन हुआ और स्वरों के साथ साथ उनमें संचार हुआ नवीन चेतना का। वर्षों की बेहोशी तोड़ कर वे उठ बैठीं—एक अलसाई अँगड़ाई लेकर।

सहसा कवि का स्वर उखड़ गया। उसकी वीणा हाथ से छूट पड़ी और वह अचेत होकर गिर पड़ा। चीख कर पत्थर की मूर्तियाँ घिर आईं उसके पास (सम्भवतः उनमें चेतना-मानवता फिर जाग गई थी)। अपराधी की तरह सर झुका कर उन्होंने कहा, "आह! कवि का अन्त हो गया।"

पर डाल पर कोयलिया कूक उठी—"कवि अमर है! हममें सुनो कवि की प्रतिध्वनि!" आकाश में लहराते हुए बादल रो पड़े—"कवि मरा नहीं है। हममें अब भी छलक रहे हैं कवि के आँसू।" पूरब से बहती हुई नशीली पुरवैया क्रन्दन कर उठी—"कवि की मृत्यु भ्रम है। हममें अब भी लहरा रहे हैं कवि के गीत!"

पर अपराधी की तरह मानव ने सर झुका कर कहा, "कवि का अन्त हो गया!"

आकाश में, जमीन पर, मानव में, प्रकृति में, स्वर्ग में, पृथ्वी में कवि की वाणी लहरा उठी थी जिन्दगी बन कर; पर जिन्दगी ने डाल दिया था कवि पर मौत का काला आवरण। पर मौत के उस अँधेरे को चीर कर भी कवि के अधरों पर खेल रही थी ईश्वरीय मुसकान की चमचमाती हुई जोत—

कोयल कूकती रही, बादल लहराते रहे, पुरवैया बहती रही!

रा
मि
ड
की
हँ
सी
०

८

वह कला के प्रति जीवन का पहला विद्रोह था। मिस्र के राजदूत ने घूम-घूमकर देश देश में घोषणा की—"मिस्र की राजकुमारी कला को कृत्रिम और नश्वर समझती है। उसके मत में जीवन की यथार्थ बाह्य रूपरेखा कला से अधिक महत्वपूर्ण है। उसका विश्वास है कि कल्पना के सुकुमार उपासक, कलाकार जीवन का यथार्थ चित्रण करने में असमर्थ होते हैं। और इसीलिए उसकी प्रतिज्ञा है कि जो भी कलाकार उसके रूप की यथार्थ प्रतिमा का अंकन कर सकेगा, उसके चरणों पर वह अपना वैभव और अपना यौवन अर्पित कर देगी।"

सारे संसार की निगाहें एक बार मिस्र की ओर उठ गईं। घोषणा कुतूहल से सुनी गई। कलाकार प्रतिमांकन के लिए आवश्यक साधन और सुडौल प्रस्तरखंडों को लेकर मिस्र की ओर चल पड़े।

पहले कलाकार का राजकुमारी ने स्वागत किया। वह आया। उसने छेनी उठाई। राजकुमारी ने मुख का आवरण उलट दिया। बादल के हटने पर सुनहली धूप छिटक गई। कलाकार सिहर उठा। राजकुमारी मुसकरा पड़ी। वह निष्प्रभ हो गया। उसकी छेनी लक्ष्यभ्रष्ट हो गई। राजकुमारी हँस पड़ी। कलाकार हार गया।

दूसरा आया, तीसरा आया। वर्षों बीत गए। मीलों तक धरती प्रस्तरखंडों से ढँक गई। राजकुमारी प्रत्येक की हार पर मुसकराती, जलपात्र में अपने रूप की प्रतिच्छाया देखती, बिखरी हुई अलकें सम्हालती, भाल के स्वेदबिन्दु पोंछती और सदर्प अपने सिंहासन पर आकर बैठ जाती।

× × × ×

और एक दिन प्रतिहारी ने सूचना दी—"भारत से एक कलाकार आया है!"

"आने दो!" राजकुमारी बोली।

कलाकार ने प्रवेश किया। भौंरों सी काली लहराती हुई अलकों पर असावधानी से रखा हुआ उष्णीष, भूमि तक झूमता हुआ नीला रेशमी उत्तरीय, चुना हुआ पीत अधोवस्त्र और सावधानी से बँधा हुआ अरुण कटिवस्त्र। आम की फाँक की भाँति आकर्षक, विशाल भोले नयन और सारंग सी मतवाली चाल।

वह आगे बढ़ा और एक लिपटा हुआ अर्धशुष्क कमलपत्र राजकुमारी के चरणों के समीप रख दिया। राजकुमारी ने उठाया। ओस की बूँदों में पराग घोलकर मृणाल की तूलिका से राजकुमारी का एक रेखा-चित्र बनाया गया था। आड़ी, तिरछी, उलझी हुई रेखाएँ जिनमें उसके रूप की तो केवल

झलक थी, लेकिन उन रेखाओं की हर वक्रता में राजकुमारी का दर्प बल खाकर इठला उठता था। राजकुमारी का गर्व हर अभाव में मुसकरा उठता था। वह राजकुमारी का चित्र नहीं, भावछाया थी।

राजकुमारी ने देखा और वह मुसकरा पड़ी।

"यह तो भावछाया है, क्या तुम यथार्थ प्रतिमा का निर्माण कर सकोगे युवक? क्या तुम भारत से आवश्यक प्रस्तरखंड लाए हो?"

"क्या मूर्ति के लिए पत्थर? विवशता थी राजकुमारी। भारत में पत्थर हैं ही कहाँ? जितने पत्थर थे भी कलाकारों ने मूर्ति-निर्माण के लिए उन्हें स्पर्श किया, और कला के स्पर्श से सब पत्थर देवता हो गए, राजकुमारी!"

राजकुमारी मुसकराई।

"ओह! तुम तो शिल्पी ही नहीं, कवि भी हो। लेकिन कला का गुणगान मेरे सम्मुख कर रहे हो। मैं-जिसके एक भ्रूभंग से आहत होकर कितने युवक कवि बन गए हैं। जिसकी छवि की एक झलक का अंकन करने में कितने कलाकार असफल होकर चले गए और जिनके अवशिष्ट पत्थरों से मिस्र की धरती ढँक गई है।"

"वे कलाकार न थे राजकुमारी! वे दर्प की प्रतिमा के दुर्बल उपासक थे। उन्होंने यथार्थ को सीमाओं में कला को बाँध देना चाहा था और वे असफल होकर चले गए। भारत का कलाकार जीवन को, यथार्थ को, बाह्य रूप को, कला को, कल्पना की, आदर्श की सीमाओं में बाँधता है।"

"हूँ! शायद इसीलिए भारत का कलाकार पर्वतों, सागरों, मरुस्थलों को पार कर रूप के चरणों में कला का फूल चढ़ाने

मिस्र आया है—" राजकुमारी ने व्यंग किया।

"कदापि नहीं!" कलाकार ने उत्तर दिया—"मैं प्रणय-याचना के उद्देश्य से नहीं आया हूँ। मैं तुम्हारे लिए भारत से एक संदेश लाया हूँ। वह जीवन जो यथार्थ के दर्प में उलझ कर रह जाता है, परिवर्तन उसे नष्ट कर देता है। वह जीवन जो कला की असीम सीमाओं में बँधकर चलता है, अमर हो जाता है राजकुमारी! और देशों के कलाकार तुम्हारे रूप की छाया का चित्रण करने आए थे, मैं तुम्हारी छाया में रूप भरने आया हूँ।"

"मेरी छाया में रूप!" राजकुमारी हँसी, "मुझे रूप की कमी नहीं है कलाकार! रूप के पाश में जकड़कर ही मैं सहस्रों कलाकारों के अभिमान को चूर चूर कर चुकी हूँ।"

कलाकार पल भर चुप रहा और फिर बोला—"एक कलाकार की हैसियत से मुझे इस पर लज्जा आती है राजकुमारी! अच्छा, इन्हीं अवशिष्ट पत्थरों से मैं कला का वह शाश्वत निर्माण करूँगा जिसे देखकर संसार आश्चर्यचकित रह जायगा। जिस दिन तुम्हारा रूप चूर चूर होकर बिखर जायगा और गर्म रेगिस्तानी हवा के झोंके उसे अनन्त शून्य में बिखरा देंगे उस दिन भी मेरा निर्माण गौरव से शीश उन्नत कर जीवन की नश्वरता पर अमर अभिमान की हँसी हँसेगा—"

और धीरे धीरे एक दिन वह निर्माण पूरा हो गया। वह संसार का उच्चतम भव्य निर्माण—पिरामिड। कलाकार ने राजकुमारी को आमंत्रित किया—पिरामिड की कला का निरीक्षण करने के लिए—उच्च भव्य निर्माण, जिसके आधार के समीप एक अन्तःप्रकोष्ठ था। राजकुमारी ने कक्ष में प्रवेश किया। सामने एक चिकना पत्थर था। राजकुमारी ने उसमें झुककर अपना प्रतिबिम्ब देखा। ऊपर एक छेद से भूली-भटकी हुई एक सूर्य-

किरण झाँकने लगी जिसकी प्रकाश-रेखा में राजकुमारी को लगा जैसे उसके कुछ बाल सफेद हो गए हैं। वह हँसी और कलाकार से बोली—"तुम्हारी कला त्रुटिपूर्ण है कलाकार! उसमें तो मेरे केश श्वेत दीखते हैं!"

"हाँ राजकुमारी! कला को कल्पना के दर्पण में यथार्थ को अपनी सभी त्रुटियाँ दीखने लगती हैं और वह आहत होकर विद्रोह कर उठता है—कला त्रुटिपूर्ण है। क्या तुम्हारा रूप अमर रहेगा? जिस दिन तुम्हारे कोमल कपोलों पर श्वेत अलकें झूलेंगी, जिस दिन तुम्हारे जीवन पर वृद्धावस्था का अभिशाप छा जायगा, उस दिन तुम सोचोगी कि तुमने जीवन में क्या किया? केवल रूप के दर्प में मनुष्यों के जीवन को कुचलती रहीं। एक दिन भी तुमने हृदय की प्यास नहीं बुझाई। हमेशा भावना की भूख को झुठलाती रहीं। तुमने अपने जीवन से कला का, कविता का, प्रेम का बहिष्कार कर दिया और एक दिन कला, कविता, प्रेम तुमसे प्रतिशोध लेंगे!"

"कलाकार!" राजकुमारी चीख उठी—"मैं हार गई युवक! मैं तुम्हारे सामने हार मानती हूँ। मेरा वैभव, मेरा यौवन, मेरा रूप, मेरा राज्य, कला के, तुम्हारे चरणों पर अर्पित है।"

कलाकार स्तब्ध रह गया। क्षण भर असमंजस में रहा और उसके बाद सहसा बोल उठा "मुझे अस्वीकार है!"

"नहीं! नहीं! कलाकार, इतना भीषण प्रतिशोध न लो। मानती हूँ मैं जीवन भर पत्थर रही पर तुम तो पत्थर को स्पर्श कर देवता बना देना जानते हो न!"

"ठीक है राजकुमारी! पर मेरे कन्धों पर, कला के कन्धों पर, मानवता का उत्तरदायित्व है। किसी एक व्यक्तित्व की सीमाओं में बँधकर मैं कला की हत्या नहीं करना चाहता!

विदा राजकुमारी, मेरा कार्य समाप्त हो गया—"

राजकुमारी ने क्षण भर जाते हुए कलाकार की ओर देखा और उसके बाद चोट खाई हुई नागिन की तरह तड़प कर बोली—"यह मेरी पहली पराजय थी—लेकिन यह पराजय मुझे विजय की शाश्वत चेतना देगी। मैं प्रेम की याचना नहीं करूँगी निष्ठुर! मैंने रूप की लहरों के सहारे जीवन की नाव खेई है और रूप के नष्ट होने के पहले ही मैं रूप की धारा में अपने जीवन को डुबो दूँगी!"

उसने अपनी उँगली से अँगूठी निकाली। अँगूठी का हीरा रंग और रूप की किरणों से जगमग हो रहा था। वह अँगूठी ओठों तक ले गई और उसका जहर चूस लिया। उसके ओठ नीले पड़ गए और वह सदा के लिए सो गई।

लेकिन मिस्र के निवासी बोले—"हमारी राजकुमारी का रूप अजेय रहा है, अजेय रहेगा।"

वे वैज्ञानिक रसायन लाए। राजकुमारी का शव रसायनों में लपेटकर पिरामिड के अन्तःकक्ष में रख दिया गया। वे बोले—"जब तक कला के इस विशिष्ट निर्माण, पिरामिड का अस्तित्व रहेगा, तब तक हमारी राजकुमारी का रूप भी शेष रहेगा। कला अमर है तो रूप भी नश्वर नहीं, हमारी राजकुमारी मरकर भी कला से जीत गई!"

× × × ×

लाखों वर्ष बाद—

एक कलाकर और उसकी पत्नी भ्रमण करते हुए पिरामिड के अन्तःकक्ष में आए। उन्होंने राजकुमारी की ममी को देखा और देखा पिरामिड की ऊँचाई को।

"कितना भव्य निर्माण है?" कलाकार ने कहा।

"कितना मादक रूप है?" उसकी पत्नी ने कहा।

"इसके निर्माण में कला की कितनी महान चेतना लगी होगी?"

"और उस चेतना के मूल में यथार्थ रूप की कितनी सशक्त प्रेरणा रही होगी?"

"यथार्थ रूप की प्रेरणा! कला के शाश्वत निर्माण के सामने उसका क्या महत्व! यथार्थ नश्वर होता है, एकयुगीन होता है। कला युग युग की होती है, अमर होती है!"

कलाकार ने आगे बढ़कर ममी को स्पर्श किया। वह राख की तरह चूर चूर होकर बिखर गई। पत्नी चीख पड़ी। "कहाँ है यथार्थ! बस इतनी सी सत्ताशीलता पर उसकी तुलना तुम कला के अमर निर्माण से कर रही थीं—"

वह चुप हो गई। आज युगों के संघर्ष के बाद भी कला जीत गई। कलाकार हँस पड़ा और पत्थरों में वह हँसी गूँज गई। कला का शाश्वत निर्माण—पिरामिड प्रतिध्वनि दुहराते हुए हँस पड़ा—अपनी विजय के गौरव पर।

———

कुबेर

१

उस समय प्रकृति प्रकृति थी—और मनुष्य मनुष्य।

प्रकृति में—

शस्यश्यामला घाटियाँ भी थीं और रूखेसूखे मरुस्थल भी। पर उन मरुस्थलों की नीरसता में भी जो वनफूल अंकुरित हो उठते थे, वे अपने सौरभ में अद्वितीय थे। वसन्त भी था और पतझड़ भी। किन्तु पतझड़के पीले पत्तोंमें तेजोमयी कान्ति रहती थी जो वसन्त के रंगीन फूलोंमें छा जातीथी।

मनुष्य में—

सुख भी था और दुःख भी। किन्तु उसके दुःख में भी एक उल्लास था क्योंकि वह दुःख को दुःख न मानता था। उसकी वेदना में भी एक आनन्द था क्योंकि वह जीवन की सम्पूर्णता को पहचानता था। उसकी मृत्यु में भी एक दृढ़ता थी क्योंकि वह आत्मा की अमरता पर विश्वास करता था।

मनुष्य और प्रकृति में—

साहचर्य था। मनुष्य स्वयं प्रकृति के एक पारिजात-कुसुम की भाँति जीवन की डाल पर सहसा पल्लवों का आवरण हटा कर खिल पड़ता था। रात्रि की नीरवता को अपने सौरभ से गुदगुदाकर, प्रभात की प्रथम किरण के साथ ही डाल की गोद से उछल कर भूमि को चूम लेता था। प्रकृति अपनी सद्यःविकसित तरुण कलिकाओं के समीर के शीतल झकोरे और चंचल जल-लहरियाँ मनुष्य को समर्पित कर देती थी और मनुष्य अपनी मानवीय भावनाओं से प्रकृति को पूर्ण कर देता था। वह फूलों के सौरभ में अपने स्वरों के सहारे बिखेर देता था चाँदनी और चाँदनी में अपने उच्छ्वासों से भर देता था भीना भीना सौरभ। तरुणियों के स्पर्श से कलिकाएँ खिल जाती थीं और कलिकाओं के श्रृंगार से निखर आता था तरुणियों का यौवन। प्रकृति मनुष्य की शक्ति थी और मनुष्य प्रकृति का सहचर स्वामी।

× × × ×

दूर तक फैले हुए सुनहले परिपक्व खेतों के बीच में थी एक हरीभरी अमराई। नीचे की नरम दूब पर अधलेटी हुई एक कृषक युवती दिवास्वप्नों में उलझ रही थी। बरसात की घटाओं से केशपाश मलयसमीर में लहरा रहे थे। सहसा वसन्त के नए चमकीले आम्रपत्रों की झिलमिल जालियों को कँपाती हुई गूँज उठी मदमाती कोयलिया की मनभावनी कूक।

युवती के दिवास्वप्न भंग हो गए। किंचित् रुष्ट होकर उसने ऊपर की ओर देखा। कोयल फिर मुसकराकर गा उठी—"कुहू!"

"उँह! न जाने कब तक मुझे स्वरों का अभ्यास करना पड़ेगा" युवती झल्लाकर बोली—"देख ऐसे........"और उसने स्वर को पंचम पर साध कर एक गीत गाया। गीत के स्वर

मधुभरी चाँदनी के समान अमराई को उन्मत्त करने लगे। गीत के समाप्त होते होते कोयल फिर नटखट स्वरों में कूक उठी, "कुहू !"–युवती ने हारकर गीत बन्द कर दिया। कोयल और भी उल्लसित होकर कूकने लगी। सहसा पीछे से किसी ने युवती के दृग मीच लिए—

"कौन, छाया ?"

'न।'

"चाँदनी ?"

"फिर से सोचो।"

"ओ ! तुम हो।"—युवती के कपोलों पर सन्ध्या छा गई।

अपना हाथ हटा कर युवक बोला—"आज कितना सुन्दर दिन है। जी चाहता है इस सघन रसाल की शीतल छाया में निरुद्देश्य बैठ कर कभी तुम्हें और कभी बादलों को देखते हुए दिन बीत जाय।

"नहीं, यह तो अकर्मण्यता है।"—युवती बोली।

पवन का एक झोंका रसाल को झकझोरता हुआ आया और उसके आँचल को अस्तव्यस्त करता हुआ चला गया। उसने लजा कर आँचल सम्हाला और हँस कर बोली—"आओ, पवन के इन झोंकों के संग उड़ चलें—किसी नवीन प्रान्तर में···।"

दोनों हँसते हुए चल पड़े।

× × ×

"अब ?"—सहसा युवक ने हँस कर पूछा।

बालिका ने आँख उठा कर देखा सामने के ऊँचे पर्वत को और आकाश में मध्याह्न के सूर्य को।

"अभी दिन शेष है। चलो, देखें क्या है इन ऊँची शैल-मालाओं के पार !" मचलते हुए अर्द्ध-स्वर में युवती बोली।

"न" पुरुष ने दृढ़ता से कहा—"आज तक कोई नहीं गया है उस घाटी में। कोई गम्भीर रहस्य है उसमें। उसे अछूती ही रहने दो।"

"बड़े कायर प्रतीत होते हो।" नारी ने भर्त्सना की। "यदि आज तक कोई नहीं गया है तो हम लोग क्यों जाने से वंचित रहें। आओ, देखें तो उधर क्या है।"

नारी ने पुरुष का हाथ पकड़ कर आगे पग रखा। युवक मंत्रमुग्ध सा चल पड़ा उसके पीछे।

कुछ दूर चलने के पश्चात् हरियाली समाप्त हो गई। चारों ओर शैलमालाओं को नग्न कालिमा जैसे दोनों की गति को अवरुद्ध करने लगी। युवक फिर रुक गया। "अब भी लौट चलो।" उसने अपनी संगिनी से कहा।

"इतनी दूर आकर फिर लौटने से क्या लाभ? क्या थक गए? लाओ, तुम्हारे स्वेदकण पोंछ दूँ।" अपने आँचल से नारी ने पुरुष का भाल पोंछा। युवक हार कर चल दिया नारी के पीछे।

अब हवा के झकोरे भी बन्द हो गए थे। वातावरण में एक अव्यक्त नीरवता छा गई थी। पेड़, पशु, पक्षी कोई नहीं, केवल कठोर नंगी चट्टानें। "उफ! इस नरक में एक क्षण भी रहना कठिन है।" पुरुष बोला।

"क्या तुम थक गए?" नारी ने प्रेम से पूछा।

"नहीं, नहीं! चलो, अभी मैं इससे दुगुना अन्तर पार कर सकता हूँ।" पुरुष ने विवश होकर कहा।

सहसा नारी को ठोकर लगी और वह आह करके बैठ गई। पुरुष ने झुक कर देखा, "ये तो किसी की अस्थियाँ हैं।"

"कुछ चिन्ता नहीं, आओ चलो!" नारी उठकर फिर

चलने लगी। पुरुष नारी के इस असीम उत्साह पर विस्मित था। मौन होकर वह भी चला।

"सम्हल कर आओ!" आगे चलती हुई नारी बोली। "यहाँ अस्थियाँ ही अस्थियाँ हैं—पथ पर।"

"यह मृत्यु का देश है नारी! चलो अब भी लौट चलें।" पुरुष ने सहम कर कहा।

"मृत्यु का देश? पर तुम तो हो मेरे साथ मेरे जीवन! फिर मुझे किसका भय?" नारी ने हँस कर कहा। पुरुष ने अनुभव किया जैसे विद्युत् उसकी शिराओं में दौड़ रही हो। वह चुपचाप फिर चल पड़ा। पार्वत्य पथ समाप्त हो चुका था—आगे थी एक घाटी।

"इधर देखो।" नारी ने सहसा दक्षिण में एक चट्टान की ओर संकेत किया। चट्टान पर मनुष्य की एक विशाल मूर्ति थी। चौड़ा वक्ष, उन्नत भाल, गठे हुए अंग पर लहराती हुई लटें। आँखों में एक विचित्र चमक और केशों में कालिमा के स्थान पर सुनहली कान्ति।

"कितनी सुन्दर मूर्ति है।" पुरुष ने कहा—"काश! इसमें जीवन भी होता, प्राण भी होते।"

"जीवन!" नारी ने मुसकराकर कहा—"यह कौन सी बड़ी बात है। यदि मेरे स्पर्श से वृक्ष कुसुमित हो सकते हैं और यदि मेरे कंठ से शून्य मुखरित हो सकता है तो क्या मूर्ति जीवित नहीं हो सकती?"

नारी ने आगे बढ़कर उसके केशों को छूआ। सहसा वे कोमल बन कर लहरा उठे।

"देखा!" नारी ने विजयी नेत्रों से निहारा पुरुष की ओर। पुरुष आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देखने लगा जादू की क्रीड़ा।

सहसा मूर्ति ने गहरी साँस ली और उठ बैठी। उसने एक अँगड़ाई ली और जैसे युगयुगों की तन्द्रा से जाग कर खड़ी हो गई। नारी इस परिवर्तन से सहम सी गई और पुरुष भयभीत हो गया।

मूर्ति ने देखा—नीचे खड़े हुए काँपते नरनारी को। वह चट्टान से भूमि पर कूद पड़ी, भूमि काँप गई। नारी के मुँह से हलकी चीख निकल पड़ी।

"भयभीत मत हो शुभे! मैं कुबेर हूँ, धन का देवता, स्वर्ण का देवता, भूख का देवता!"

"देवता! तुम देवता हो! फिर हरेभरे संसार को छोड़ कर इस उजाड़ खंड में पत्थर बन कर क्यों निवास करते हो कुबेर?" पुरुष ने पूछा।

"तुम नहीं समझ सकते पुरुष।" कुबेर बोला और नारी की ओर मुड़ कर उसने पूछा—"तुमने मुझे स्पर्श किया था नारी?"

"हाँ देवता!" नारी ने स्वीकार किया।

"अब मैं जीवित हूँ।" कुबेर हँसा। उसकी हँसी शिला-खंडों से भी कठोर थी—"अब मैं मनुष्य से बदला ले सकूँगा। मनुष्य ने मेरे प्रेम के सामने मेरी उपेक्षा की थी। उसकी असह्य उपेक्षा ने मुझे जड़ बना दिया था। आज मैं नारी का आश्रय लेकर मनुष्य से प्रतिशोध लूँगा।" उसने मनमें सोचा।

"नारी, मैं मनुष्य से घृणा करता हूँ!" उसने प्रकटमें कहा।

नारी कुछ न बोली।

"नारी, मैं देवता हूँ! प्रत्येक देवता मनुष्य से घृणा करता है।"

"घृणा किसे कहते हैं कुबेर?" पुरुष ने जिज्ञासा की।

उस समय मनुष्य घृणा से अनभिज्ञ था।

"तुम अबोध हो पुरुष, नारी से पूछो।" कुबेर बोला।

"घृणा किसे कहते हैं नारी ?" पुरुष ने अपना प्रश्न दुहराया।

"घृणा! घृणा का अर्थ है प्रेम! क्यों ठीक है न देवता ?"—नारी ने पूर्ण आत्मविश्वास से कहा।

"ठीक है, घृणा या प्रेम—मैं मनुष्य से घृणा करता हूँ, इसका अर्थ है, मैं मनुष्य से प्रेम करता हूँ। समझे मनुष्य ?"

कुबेर एक कुटिल हँसी हँस कर बोला।

"तुम हमसे प्रेम करोगे! धन्य-धन्य कुबेर, तुम सचमुच देवता हो।" नारी ने श्रद्धा से हाथ जोड़ कर कहा।

कुबेर गर्व से फूल उठा—"क्या वरदान चाहती हो नारी ?"

नारी और पुरुष हाथ जोड़ कर बोले—"हमारे खेतों में सदा धान्य रहे। हमारे आकाश में समय समय पर मेघ लहराएँ। हमारे वृषभ, हमारी गायें सदा हृष्ट-पुष्ट रहें देवता!"

"बस—यह तो कुछ भी नहीं है।"—कुबेर ने कहा। "लो! मैं तुम्हें नवीन वस्तु देता हूँ।"

नारी ने कर फैला दिया। कुबेर ने उस पर रख दिया धातु-खंड—पीला पीला।

"यह क्या है ?" नारी ने पूछा।

"स्वर्ण।"

"स्वर्ण!" पुरुष चौंक उठा—"नारी! 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्!' स्वर्ण के अवतरण से सत्य की साँसें घुट जाती हैं। हमारे पूर्वज सदा इससे दूर रहे हैं नारी।"

"बड़े कायर हो।" नारी बोली। "देखो कैसी सुन्दर कान्ति है मानो सूर्य की प्रभातकालीन किरणों से निर्मित हो।"

"जाने भी दो !" पुरुष बोला। "इससे अधिक सुन्दर आभा हमारे पके खेतों में है। सुनहरी जौ की बालें क्या इससे कम सुन्दर होती हैं ?"

"तुम मूर्ख हो पुरुष !" कुबेर ने कहा। "तुम इसका उपयोग क्या जानो। इस एक स्वर्णखंड से तुम सैकड़ों पके खेत क्रय कर सकते हो।"

"क्रय क्या ?" पुरुष ने पूछा।

"क्रय ! तुम इस स्वर्णखंड को देकर इसके बदले में धान्य ले सकते हो।" कुबेर ने समझाया।

"नहीं, नहीं, वह पाप है—दूसरे के श्रम के फल में हमारा भाग केवल प्रेम द्वारा ही हो सकता है।" पुरुष ने उत्तर दिया।

"प्रेम द्वारा ही नहीं, अधिकार द्वारा भी।"

"देश के सारे धान्य पर हमारा अधिकार होगा, देश के सब पशु हमारे होंगे, देश के समस्त वैभव के स्वामी हम होंगे। क्या तुम इस स्वामित्व के इच्छुक नहीं ?" नारी ने पुरुष से पूछा। उसने उसके मृदुतम स्थान को पहिचान लिया था।

पुरुष ने क्षण भर अपने विशाल वक्ष और पुष्ट बाहुओं को देखा। वह समर्थ है, स्रष्टा है, स्वामी भी बनेगा। उसने स्वीकारात्मक दृष्टि से देखा नारी की ओर। नारी अपनी सफलता पर हँसी। उसकी हँसी देखकर पुरुष की दृष्टि में न जाने क्यों अविश्वास आ गया।

"इतना स्वर्ण तो अपर्याप्त होगा देवता।" पुरुष ने कहा।

"इस शिलाखंड को हटाकर तुम यथेष्ट स्वर्णखंड ले सकते हो।"—कुबेर अपनी सफलता पर हँसा।

पुरुष ने अपना उष्णीष खोल कर उसमें स्वर्ण भरा और चल पड़ा। नारी ठिठकी, उसने कुबेर से बिदा लेनी चाही।

पुरुष ने सन्देह की दृष्टि से देखा नारी की ओर और उसे आगे की ओर खींच कर कहा—"तुम पर मेरा अधिकार है समझीं?" पुरुष अधिकार का प्रयोग सीख गया था— और उसने अपना पहला प्रयोग किया नारी पर।

नारी कुछ न समझी, चुपचाप साथ चल पड़ी। थोड़े ही अन्तर के बाद वह थक गई। उससे स्वर्णभार नहीं सम्हलता था।

"अब मैं नहीं चल सकती।" उसने कहा।

"क्या? तुम्हें मेरे साथ चलना होगा—अभी चलना होगा।" पुरुष ने कहा।

नारी ने विचित्र भय से देखा पुरुष की ओर। पुरुष की आँखों से स्नेह लुप्त था—थी केवल कटुता। वह सहम गई, कुछ न बोली। थोड़ी दूर चल कर, हार कर, थक कर बैठ गई—"अब मुझमें शक्ति नहीं रही।" नारी हाँफ रही थी।

पुरुष ने मुड़ कर कहा—"रुक जाओ यहीं–अपने देवता से शक्ति की भिक्षा माँग लेना और तब आ जाना। मैं तुम्हें खूब समझता हूँ—प्रवंचना की प्रतिमा।"

नारी इस कठोर व्यंग से तिलमिला उठी। उसका डर घृणा में परिणत हो गया—"निष्ठुर?" उसने पैर पटक कर कहा—"जाओ, मैं अब मर जाऊँगी। तुमसे आश्रय की याचना न करूँगी—पत्थर।" पुरुष रुका नहीं, बढ़ता ही चला गया। नारी ने क्षण भर उसकी ओर देखा और फिर तड़प उठी। सोना फेंक दिया और पत्थर पर सिर पटकने लगी लेकिन कहा एक शब्द भी नहीं।

सहसा उसने सुना—"कुहू।"

सिर उठाकर देखा—पास की एक शिला के छिद्र में एक कोयल का नीड़ था। कोयल उड़ कर आ रही थी। उसकी

चोंच में सुनहली बाल थी। नीड़ से झाँक कर बच्चे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। कोयल ने उन बच्चों की ओर देखकर प्रेमभरी कूक भरी—"कूहू।"

नारी सभी प्रतारणा भूल मातृत्व की उस कूक में खो गई—सो गई।

× × ×

पुरुष ने पर्वत-पथ पार कर लिया और विश्राम की एक साँस ली। पर यह क्या? यह तो उसके ग्रामका पथ नहीं--क्या वह पथ भूल गया है। रात हो गई थी। कोई हानि नहीं, वह प्रातःकाल अपना पथ ढूँढ़ लेगा। आज नहीं तो कल वह होगा सारे देश का स्वामी। वह विश्राम करेगा। उसने शीश से स्वर्ण उतार कर भूमि पर धर दिया और भूमि पर धरते ही उसने देखे--दूर वृक्षों की ओट में झिलमिलाते हुए ग्राम-दीप।

"आह, ग्राम तो पास ही है।" उसने सोचा--और बढ़ने के लिए स्वर्ण उठाया। पर स्वर्ण उठाते ही ग्राम अदृश्य हो गया। आकाश में तारे हँस पड़े। मनुष्य चलता ही गया। इस भयानक मृग-तृष्णा के इस दयनीय शिकार की इस व्यवस्था को तारे न सह पाए। उन्होंने पलकें मूँद लीं। सबेरा हो गया।

मनुष्य ने थक कर स्वर्ण रख दिया और देखा······वह सामने पेड़ों के झुरमुटों में ग्राम।

"आहा।" वह प्रसन्नता से हँस पड़ा। पैर भर गए थे, शरीर थक गया था, मुँह सूख गया था, आँखें जल रही थीं, पर उसने स्वर्ण उठाया और चल पड़ा। ग्राम फिर अदृश्य हो गया।

वह चलता ही गया।

मध्याह्न का सूर्य तप रहा था, पेड़ों की पत्तियाँ सूख कर गिर रही थीं, जल के स्रोत सूख रहे थे। रह जाता था केवल ताप,

भीषण ताप, श्मशान की लपटों सा भयंकर।

वह प्यास से विकल था, क्षुधा से आर्त।

"भूख !"—क्षीण स्वर में उसने कहा।

"प्यास !"—मन्द स्वर में उसने कहा।

किन्तु तरु पत्र-विहीन हो गए थे और सरिताएँ निर्जल। उसकी आँखों के सम्मुख अँधेरा छा गया। वह मूर्छित होकर गिर पड़ा। अर्ध-मूर्छा में अस्फुट स्वर में बोला—"भूख !"

एक स्वर्णखंड उसने दाँतों से तोड़ा पर असह्य पीड़ा से कराह उठा।

"भूख ! भूख !" वह कराहा—चीख उठा—"प्रेम मिथ्या है, नारी प्रवंचना है, सत्य है भूख—केवल भूख।"

"भूख सत्य है, किन्तु अधिकार की या प्रेम की ?" असह्य ताप से झुलसते हुए एक दूर्वादल ने पूछा।

"मनुष्य निरुत्तर था।"

हाँ—इसके उत्तर में पास के ठूँठ के कोटर से एक गिद्ध चीखता हुआ उड़ा और चारों ओर मँडराने लगा। उसकी चोंच में मांस का एक टुकड़ा था। टुकड़े से खून की दो बूँदें मनुष्य के अधरों पर चू पड़ीं। मनुष्यने सूखी जीभ से उसे चाटा—पर उसकी प्यास न बुझी। उसने भूखी आँखों से देखा मांसखंड की ओर—गिद्ध ने प्यासी आँखों से देखा मनुष्य की ओर।

आकाश में से झाँक कर भूख के देवता ने देखा और अट्ट-हास कर उठा।

———

मंजिल ७

१०

सृष्टि बना कर ईश्वर ने सन्तोष की साँस ली और निरीक्षण की दृष्टि से संसार देखा।

विस्तृत धरा थी, धरा पर मखमली घास थी, घास के घूँघट को हटा कर फूल शरमा कर झाँक रहे थे और फूलों की गोद में तितलियाँ अपने रंगीन परों को समेट कर सो रही थीं।

किन्तु इस कोमल प्रणय को देखनेवाला कोई भी न था।

ईश्वर ने एक अभाव का अनुभव किया।

उन्मुक्त नीला आसमान था, जिसमें रात को रुपहली चाँदनी हँसती थी, दिन को सुनहली धूप लहराती थी। सुबह को शबनम झरती थी, रात को तारे जगमगाते थे।

किन्तु तारों को गिन गिन कर रात बितानेवाला कोई न था।

ईश्वर ने एक अभाव का अनुभव किया।

आसमान की सतह पर स्वर्ग था। स्वर्ग में अप्सराएँ थीं।

अप्सराओं के साथ देवता थे। केसर के तीर चलानेवाला अनंग था। मादकता बिखेर देनेवाली रति थी। वैभव था, रूप था, रंग था, मादकता थी, विस्मृति थी।

किन्तु इन वैभवों से आकर्षित होकर स्वर्ग पाने की साधना करनेवाला कोई भी न था।

ईश्वर ने अभाव का अनुभव किया।

ईश्वर के वैभव के सामने नतमस्तक होनेवाला कोई भी न था......। ईश्वर असन्तुष्ट हो गया।

अभाव ! अभाव !! अभाव !!!

और तब ईश्वर ने अभाव को दूर करने के लिए एक भाव की सृष्टि की! वह भाव आकाश सा विस्तृत था, फूल सा ताजा था, दूब सा कोमल था, अप्सराओं सा लजीला था, स्वर्ग सा आकर्षक था। संसार में जहाँ जो भी कुछ सुन्दर था, आकर्षक था, सब को मिला कर उस भाव की रचना हुई। उस भाव का नाम ईश्वर ने रखा मनुष्यत्व। मनुष्यत्व में अनंग की चंचलता थी, रति की मादकता थी, धूप की गर्मी थी, दूब की नमी थी, शबनम की चमक थी, तितली का निखार था।

ईश्वर ने मनुष्यत्व का निर्माण किया और धरा पर उसे उतार दिया।

लेकिन उसकी इच्छा पूरी नहीं हुई।

ईश्वर ने सोचा, मनुष्यत्व उसके सामने सिर झुकाएगा—लेकिन वह अभी केवल भाव था। असीम भाव, अनन्त कल्पना। और उसकी वह सीमाहीन कल्पना केवल धरा से सन्तुष्ट न हुई। ईश्वर के सामने नतमस्तक न हुई। उसने आकाश के तारे तोड़ने शुरू किए, अनंग के तीर चुरा लिए, रति की मादकता लूट ली और नए स्वर्ग का निर्माण शुरू कर दिया।

ईश्वर सहम गया। उसने क्षण भर सोचा—अच्छा मनुष्यत्व को सीमित कर दो। धरा की कारा में मनुष्यत्व को बन्दी बना दो। उसने दो मुट्ठी धूल उठाई और असीम भाव को सीमित देह मे आबद्ध कर दिया। मनुष्यत्व अब मनुष्य बन गया।

लेकिन मनुष्य ने भी हार न मानी। उसके तन के सौरभ से आकर्षित होकर तितलियाँ चारों ओर उड़ने लगीं, फूल उसके पैरों के नीचे बिछ गए, शबनम उसके पैरों को चूमने लगी। मनुष्य इन सब के स्नेह से तृप्त होकर हँस पड़ा और उसकी हँसी आसमान मे किरणे बन कर छिटक गई, किन्तु मनुष्य झुका नहीं।

ईश्वर असफल रहा।

उसने सोचा, मनुष्य अभी शबनम, तितली सभी को प्यार करता है। अभी उसका प्यार असीम है, इसलिए उसकी सत्ता भी असीम है, उसकी शक्ति भी असीम है—क्योंकि प्यार का ही दूसरा नाम अस्तित्व है और अस्तित्व रखने की सामर्थ्य का नाम शक्ति है। अतः उसने सोचा—उसके प्यार को भी सीमित कर दो।

और तब ईश्वर ने निर्माण किया नारी का।

फूलो सी कोमलता, पुष्प की पार्थिवता के संयोग से नारी का निर्माण हुआ। और एक दिन पुरुष ने देखी—फूलों से लदी हुई वसन्ती झाड़ियों के बीच मे लाज से सकुची हुई नारी। पुरुष को एक नया साथी मिला। वह हँसती थी तो फूल झरते थे। पुरुष फूलों को भूल गया। उसकी आँखों मे चाँदनी छिटकती थी। वह चाँद को भूल गया। नारी की गति मे ईश्वरत्व की शान थी। और पुरुष ईश्वर को भूल गया।

ओह! ईश्वर फिर हार गया।

घने पेड़ों की शीतल छाँह में, हरी मखमली दूब पर पुरुष

और नारी कलियों को उछाल उछाल कर खेलते थे। एक दिन पुरुष के मन में नया विचार उठा। वह उठ खड़ा हुआ। उसने नारी से कहा—"संगिनी! आओ, हम तुम कुछ निर्माण करें।" और नारी बाहें फैला कर उसकी ओर बढ़ी—

ईश्वर काँप उठा! यह क्या! पुरुष ईश्वर से सृजन का अधिकार भी छीन लेगा? उसने फौरन नारी और पुरुष के बीच में व्यवधान उत्पन्न कर दिया। वह व्यवधान था एक जलता हुआ प्रकाश-चिह्न! पुरुष ने पूछा—"मेरी मंजिल क्या है? केवल नारी! नारी! केवल नारी! कदापि नहीं!" वह उत्तेजित होकर उठ गया।

"मेरी मंजिल क्या है?" उसने चीख कर शून्य से पूछा और नारी को छोड़ कर चल दिया अपनी मंजिल की खोज में। उसने बिजली से चपलता ली, आँधियों से गति ली, जल से अथक साधना का वरदान लिया और चल पड़ा, चलता गया।

ईश्वर ने उसे बढ़ते देखा और पृथ्वी गोल कर दी, ताकि वह जन्म भर चक्कर ही लगाता रहे और आगे न बढ़ने पावे।

पुरुष इस षड़यन्त्र से अनभिज्ञ था। वह पृथ्वी का चक्कर लगाता गया। यहाँ तक कि उसी स्थान पर पहुँच गया, जहाँ नारी थी।

वह खड़ा हो गया। इसका क्या अर्थ? पृथ्वी का चक्कर लगाकर फिर वहीं पहुँचा जहाँ नारी थी। तो क्या नारी ही उसकी मंजिल है?

नारी ने अलसौंहीं लजीली पलकें उठा कर पुरुष की ओर देखा और मुट्ठी भर कर फूल उधर फेंक दिए। पुरुष विह्वल हो उठा और उसने दो काँपते हुए ओठों पर दो जलते हुए ओठ रख दिए।

और ! और ! जैसे किसी जादू से दोनों खंड-खंड हो गए। असंख्य मनुष्य; पुरुष और स्त्रियाँ।

ईश्वर हँस पड़ा। अब मनुष्य विभक्त है। वह मेरे सामने झुक जायगा।

लेकिन ईश्वर का अभाव ही तो। उस विभक्त आदम पुरुष की मूलभूत एकता ने उस विभाजन की बेहोशी में भी आवाज दी—"मेरी मंजिल कहाँ है?" और असंख्य दृश्यों से यह प्रति-ध्वनि उठी," हमारी मंजिल कहाँ है?"

ध्वनि-प्रतिध्वनि जब स्वर्ग पहुँची तो स्वर्ग की नींवें हिल गईं। ईश्वर का सिंहासन डोल उठा।

और उसके बाद असंख्य चरण आगे बढ़े। "हम आगे बढ़ेंगे, अपनी मंजिल ढूँढ़ेंगे।" उन्होंने एकस्वर से कहा।

धरती काँप उठी। पर्वत चूर चूर हो गए। उन्होंने गरजते हुए तूफानों पर अपनी आवाज तैराई—"हम नहीं रुकेंगे। हम आगे बढ़ेंगे। हमारी मंजिल कहाँ है?"

उन्होंने क्रोध से पैर पटके। स्वर्ग चूर-चूर हो गया। उनकी गति के कारण उड़ती हुई गर्द में ईश्वर छिप गया। वे बढ़ते ही गए। ईश्वर डर कर धरती पर गिर पड़ा। टूट कर धरती पर बिखर गया। नारियाँ रुक गईं कुतूहल से। आकाश से गिरे हुए उन टुकड़ों पर उन्होंने पुरुष के चरण की धूल देखी और रुक कर उसकी पूजा में लग गईं। पथरीले ईश्वर के वे टुकड़े पुरुष के चरणों की धूलि से सने थे, इसी से नारी के उपास्य बन गए।

पुरुषों ने नारियों को रुकते हुए देखा। क्या वे भी रुकें—एक ने पूछा—"क्यों रुकें? क्या नारी हमारी मंजिल है?"

'नारी हमारी मंजिल है? असम्भव! नारी बहुत दुर्बल है!" दूसरे ने कहा।

"नारी तो स्वयं पुजारिन है। उसमें पूजा ग्रहण करने की शक्ति कहाँ?"

"नारी वह हो सकती है, मंजिल नहीं! साधन हो सकती है, साध्य नहीं!"

और वे फिर बढ़ चले। हजार, लाख, करोड़, असंख्य बार वे पृथ्वी के चारों ओर घूमे, रुके नहीं। नारी पूजा में संलग्न रही। पुरुष बढ़ते रहे।

अन्त में पुरुष के पैर न थके—संसार की पगडंडियाँ थक गईं। वे बोलीं—"बस करो! मुसाफिरो हम हार गईं। सच तो यह है पुरुष कि तुम खुद अपनी मंजिल हो, विश्व की पगडंडियाँ कोने कोने से चल कर तुम्हारी ही परिक्रमा करती हैं। पुरुष! मंजिल तो तुम खुद हो। हम तो तुम तक पहुँचने का यत्न करती हैं।"

पर फिर भी पुरुष नहीं रुके। थकी म्लान पगडंडियाँ उन्होंने हाथोंमें उठा लीं और आसमान को पैरों के नीचे बिछा कर चल दिए।

और तब से आज तक—

नारी पूजा करती है। पुरुष चलता है—इस लिए नहीं कि उसे किसी मंजिल तक पहुँचना है। मंजिल तो वह खुद है। वह बढ़ता है इसलिए कि चलने से पैरों की ताकत बढ़ती है और मंजिल खुद दिन पर दिन मजबूत होती जाती है।

आसमान पर पुरुष के पैरों के निशान रात को तारे बनकर चमक उठते हैं।

———

युद्ध मृत्यु और कविता

मनुष्य भय से चीख उठा।

साथ के देवदूत ने रुक कर पूछा, "क्या है मनुष्य ?"

मनुष्य ने एक बार देखा अपने चारों ओर—अंधकार पर अंधकार की परतें। आह! पैरों के नीचे निराधार शून्य! वह काँप गया।

"मुझे भय लगता है।" उसने देवदूत का हाथ और भी मजबूती से पकड़ कर कहा।

"किन्तु काहे का भय ?" देवदूत ने आश्चर्य से पूछा।

मनुष्य बोला—"तुम अपने पंखों के सहारे इस अंधकार के सागर को तैर कर जहाँ चाहो जा सकते हो देवदूत—पर मेरे लिए तो तुम्हारा ही आश्रय है। यदि दैववश तुम्हारा हाथ छूट जाय तो ये अंधकार की काली लहरें मुझे न जाने कहाँ ले जायँगी।"

"अपने को इतना तुच्छ न समझो मनुष्य!" देवदूत ने कहा—"अंधकार की लहरें चीर कर अपना मार्ग स्वयं बनाने में विश्वास करो और जिस जीवन की हानि का भय तुम्हें हो सकता है उसे तो तुम संसार में ही छोड़ चुके हो। यह तो केवल मृत्यु का देश है। साथी, अपनी शक्ति पर विश्वास रखो।"

मनुष्य ने कुछ शान्ति का अनुभव किया।

उसका भय नष्ट हुआ और उसने दुगुने उत्साह से पैर बढ़ाए।

और आश्चर्य से उसने देखा—अंधकार की परतों को चीर कर प्रकाश की किरणें विहँस उठीं।

चारों ओर का दृश्य प्रकाश में आ गया। लम्बा पथ और दोनों ओर ऊँची पर्वतश्रेणियाँ। शैलशिखरों पर नाचती हुई किरणें, शिखरों से गिरते हुए निर्झर—जिनसे झर रहे थे सोने के तार—और सुनहरी जलधार में नीलम के कमलों से विहार करते हुए चाँदी के राजहंस।

"यह कौन लोक है?" मनुष्य ने पूछा।

"मृत्युलोक!" देवदूत ने उत्तर दिया।

"मृत्युलोक अथवा नरक?" मनुष्य ने प्रश्न किया।

"नरक! हाँ मनुष्य की कल्पना में स्थान पाकर सम्भवतः मृत्युलोक नरक बन जाता है, किन्तु अपने स्वतंत्र अस्तित्व में मृत्युलोक उतना ही मनोरम है जितना स्वर्ग। मृत्यु उतनी ही सुखद है जितना जीवन। ओह! कभी कभी मृत्यु की कोमलता जीवन को हरा भी देती है।"

"यह नरक है!" विस्मय से मनुष्य ने सोचा।

"किन्तु यह नरक है तो स्वर्ग कहाँ है देवदूत?"

"स्वर्ग ?" देवदूत ने मुड़ कर नीचे पृथ्वी की ओर इंगित किया। पृथ्वी पर बादल घिर रहे थे और एक रसाल-वृक्ष के नीचे झूलती हुई तरुणियाँ गा रही थीं—एक लहराता हुआ गीत।

"यह स्वर्ग है।" देवदूत बोला।

"स्वर्ग!" मनुष्य विस्मयान्वित होकर बोला—"यह तो पृथ्वी है, जहाँ से हम लोग अभी आ रहे हैं। तुम भूल तो नहीं रहे हो देवदूत ?"

"नहीं मनुष्य, पृथ्वी ही स्वर्ग है। आश्चर्य है कि स्वर्ग के निवासी स्वयं स्वर्ग की सत्ता से अपरिचित हैं।"

"तो यह नरक है! उफ! क्या मुझे मृत्युलोक में ही जाना होगा ?" मनुष्य ने करुण स्वर में पूछा।

"तुम मृत्युलोक से डरते हो ?" देवदूत बोला।

"पृथ्वी पर लोग कहते हैं कि मृत्युलोक यंत्रणा से भरा हुआ है।"

"यंत्रणा!" देवदूत हँसा—"भोले मानव! पृथ्वी पर कभी तुमने प्रेम किया था ?"

"प्रेम!" एक निश्वास लेकर मनुष्य बोला—"हाँ! लेकिन अब उसकी क्षीण स्मृति ही है जो कभी कभी मन को झकझोर डालती है देवदूत।"

"हाँ, तो उस प्रेम की यंत्रणा से तीखी यंत्रणा और हो ही क्या सकती है। उस यंत्रणा को हँस कर सह लेनेवाला मनुष्य नरक की कल्पित यंत्रणा से काँप उठता है। आश्चर्य है।"

"तुम तो मेरी जन्मजात धारणाओं को बदल रहे हो मित्र! मृत्युलोक में यंत्रणा ही नहीं होती ?"

"होती क्यों नहीं, किन्तु उतनी ही यंत्रणा जितनी

आगामी उल्लास के लिए पृष्ठभूमि बन कर प्रयुक्त हो सके। वह रहा मृत्यु का प्रासाद।"

और दोनों चुप हो गए।

× × × ×

एक कक्ष के सम्मुख आकर देवदूत रुक गया।

"यही है मृत्यु की सृजन-शाला।" देवदूत ने कहा।

"मृत्यु और सृजन! असम्भव।" मनुष्य बोला, "मृत्यु, कविता का विनाश-ग्रह कहो देवदूत।"

"एक ही बात है मनुष्य! मृत्यु के विनाश में ही सृजन के अंकुर होते हैं, आओ।"

दोनों भीतर प्रविष्ट हुए।

कक्ष में अगणित चित्र बिखरे पड़े थे। लगभग सभी धुँधले थे। किसी का रंग उड़ गया था, किसी की रेखाएँ मिट गई थीं और किसी का चित्रपट फट गया था।

उन चित्रों के बीच में थे एक देवी और एक देवता। देवी उन चित्रों को साफ कर रही थी, पुराने रंगों को धो रही थी, तूलिकाएँ साफ कर रही थी।

और देवता उन तूलिकाओं में गाढ़ा रंग भर कर उन पुराने चित्रों को नवीन कर रहा था।

"ये कौन हैं?" मनुष्य ने पूछा।

"वह है मृत्यु की देवी, विनाश की स्वामिनी और यह है जीवन का देवता, जन्म का विधायक।" देवदूत ने बताया।

"यही है मृत्युलोक?" मनुष्य ने जैसे असन्तुष्ट होकर कहा, "कुछ भी नवीनता नहीं। अब मैं ईश्वर को देखूँगा देवदूत।"

"ईश्वर को! असम्भव।" देवदूत ने कहा।

"क्यों ?" मनुष्य ने पूछा।

सहसा मृत्यु ने ग्रीवा मोड़कर कहा—"ईश्वर को ! कौन देखेगा ईश्वर को ? तुम, देवदूत ?"

"नहीं देवि ! मैं।" मनुष्य ने हाथ जोड़ कर कहा, "देवि ! मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूँ।"

"इधर आओ।" मृत्यु ने कहा।

जीवन ने अपनी तूलिका धर कर कुतूहल से मनुष्य की ओर देखा।

मृत्यु बोली—"जाओ, सामने के उस दर्पण में तुम देखोगे ईश्वर की छाया।"

मनुष्य गया। पर उसे कुछ भी न दीखा।

"मुझे कुछ नहीं दीखता है देवि !"

"ठहरो।" मृत्यु ने उस दर्पण पर एकत्र कलुष साफ कर दिया।

अब मनुष्य ने देखा—पर असन्तुष्ट होकर बोला, "यह तो मेरी ही छाया है। ईश्वर कहाँ है ? मैं ईश्वर के दर्शन करूँगा।"

"पागल मनुष्य !" हँस कर जीवन बोला, "आत्मदर्शन ही ईश्वर का दर्शन है। अपने दृष्टिकोण से अज्ञान का कलुष साफ कर मनुष्य जिस रूपमें दीखता है, वही ईश्वर है। मनुष्य ईश्वर है।"

मनुष्य ने जैसे नवीन शक्ति का अनुभव किया।

"अब तुम जीवन और मृत्यु के रहस्य से परिचित हो गए—जाओ, पृथ्वी के लोगों को बतलाओ कि पृथ्वी ही स्वर्ग है—मनुष्य ही ईश्वर है—अपने को पहचानना—ईश्वर का दर्शन है।" जीवन बोला।

"किन्तु अपने को पहचानने का साधन ?" मनुष्य ने पूछा।

"जीवन से प्रेम—मृत्यु से प्रेम—यही ईश्वर प्राप्ति का

साधन है—" मृत्यु बोली।

मनुष्य ने झुक कर प्रणाम किया और देवदूत के साथ लौट चला पृथ्वी पर—मृत्यु ने उठाया एक नवीन चित्रपट और जीवन को दे दिया। "इस पर क्या अंकित करूँ, कोई नवीन सृष्टि?" उसने पूछा।

"हाँ, आज का मनुष्य अपने अस्तित्व के रहस्य से परिचित हो गया है और प्रत्येक नवीन जीवन में मनुष्य उन्नति करेगा। आओ, हम तुम मिलकर आगामी मनुष्य के आदर्श चित्र का निर्माण करें।"

दोनों चित्र बनाने लगे—

× × × ×

परलोक के क्षण पृथ्वी पर के युगों से भी बड़े होते हैं। जब मनुष्य पृथ्वी पर आया तो बहुत परिवर्तन हो चुका था। उसे कोई परिचित न दीखा। अपरचितों के बीच में खड़े होकर उसने पुकारा—"मनुष्यो! आओ, मैं तुम्हें जीवन का रहस्य बतलाता हूँ।" लोग उसके चारों ओर घिर आए।

"सुनो, तुम ईश्वर हो। मृत्यु के भय के कारण, प्रकृति की उपासना के कारण तुम अपना रूप भूल गए हो—अपने को पहचानो—जीवन का प्रेम तुम्हें ईश्वरत्व प्रदान कर सकता है।"

अपरिचितों ने आश्चर्य से पूछा, "हम ईश्वर हैं?"

"हाँ, तुम्हीं ईश्वर हो।"

× × × ×

"मैं ईश्वर हूँ! मेरी पूजा करो।"—एक मनुष्य ने लौट कर अपने घर में कहा।

"मैं ईश्वर हूँ! मेरी पूजाकरो।"—दूसरे ने अपने परिवारमें कहा।

"मैं ईश्वर हूँ! मेरी पूजा करो।" तीसरे ने अपनी जाति में कहा।

और कुछ ही दिनों में सैकड़ों ईश्वर हो गए, सैकड़ों धर्म और हरएक धर्म के विभिन्न अनुयायी।

मृत्युलोक से लौटे हुए मनुष्य ने देखा—उसके शब्दों का अनर्थ हो गया। उसने समझाने का प्रयत्न किया—पर व्यर्थ। वह निराश हो गया।

× × × ×

कई वर्षों के बाद—

संसार विभाजित हो चुका था। पहले धर्म का विभाजन हुआ। अन्तमें धर्म के विभाजन के साथ ही जाति और राष्ट्र-विभाजन।

एक दिन एक राष्ट्र की सभा बैठी।

राजा ने कहा—"मैं पड़ोसी राष्ट्र पर आक्रमण करूँगा।"

मंत्री ने कहा—"किन्तु यह अधर्म है राजन्।"

"मुझे अपने वैभव की किंचित् इच्छा नहीं है, मैं केवल धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ।"—राजा ने कहा।

"तो केवल धर्मोपदेशक भेजे जायँ।"—मंत्री ने कहा।

धर्मोपदेशक गए पर अन्य राष्ट्रवालों ने उन्हें लौटा दिया। राजा इस समाचार से क्रोध में भर गया।

"मंत्री, हमारे पूर्वजों ने जीवन की उपासना—जीवन का प्रेम—ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बताया था। आज हमारा धर्म, हमारी सभ्यता, हमारे राष्ट्र का जीवन खतरे में है। मैं विवश होकर आक्रमण कर रहा हूँ।"

और दूसरे दिन सेना ने पड़ोसी राष्ट्र पर आक्रमण कर दिया।

जीवन ने चित्र भूमि पर रख दिया। मृत्यु ने उत्सुकता से पूछा—"क्या मनुष्य का चित्र पूरा हो गया?"

जीवन ने कहा—"हाँ, केवल हृदय का निर्माण शेष है।"

"क्यों ?" मृत्यु ने पूछा।

"पट के दो चार टाँके निकल गए हैं।"

"लाओ, मैं उन्हें सी दूँ।" मृत्यु ने रेशमी डोरों से रिक्त स्थान भरना प्रारम्भ किया। सहसा वह चीख पड़ी। सूई उसकी उँगलियों में चुभ गई। दो बूँदें खून की चू पड़ीं।

"अपशकुन !" जीवन गंभीर स्वर में बोला।

सहसा पट खोल कर देवदूत घबराए स्वर में बोला—"देवि ! देवि ! तनिक पृथ्वी की ओर तो देखो।"

मृत्यु ने देखा—पागलों की भाँति मनुष्य एक दूसरे की हत्या कर रहे हैं।

"अपशकुन का अर्थ !"—जीवन बोला।

"अर्थ या अनर्थ—" मृत्यु ने व्यथित होकर कहा।

"इसका उत्तरदायित्व तुम पर है।" जीवन ने कहा।

"मुझ पर ! क्यों ?" मृत्यु ने पूछा।

"नारी सदा से युद्ध के मूल का कारण रही है। तुम्हीं ने मनुष्य को सिखाया था जीवन का प्रेम। अब देखो उसका परिणाम।"

"नारी को पुरुष ने सदा गलत समझा है।" मृत्यु ने उत्तर दिया—"मैंने मनुष्य को सिखलाया था अपनी मृत्यु और दूसरों के जीवन से प्रेम—और मनुष्य ने सीख लिया अपने जीवन और दूसरों की मृत्यु से प्रेम।"

"इसका निराकरण ?" जीवन ने पूछा।

"आओ, मनुष्य के हृदय को प्रेम से रंग दें।" मृत्यु बोली।

जीवन ने चित्र उठाया।

"प्रेम का रंग लाल होता है। लाओ रंग।"

मृत्यु ने तूलिका में रंग भर कर दे दिया।

जीवन ने तूलिका चलाई—रंग फैल गया।

"यह क्या? यह रंग तो नहीं है। रंग तो फैलता नहीं है—सम्भवतः रक्त है।"

"आह! मेरी उँगली का रक्त तूलिका में लग गया होगा।"

"चित्र बिगड़ रहा है मृत्यु! सारा परिश्रम व्यर्थ गया।"

नीचे युद्ध का रव बढ़ रहा था। खून की बूँदें उछल कर मृत्युलोक से आ रही थीं। मृत्यु का साहस न हुआ कि उस जन-संहार को देखे। उसने उठकर कक्ष के पट बन्द कर दिए, किन्तु मुड़ कर देखा—जीवन निराश दृष्टि से देख रहा है आगामी मनुष्य के चित्र को।

"क्यों जीवन?"

जीवन मूक था। मृत्यु ने झुक कर देखा। रक्तिम रंग सारे पट पर फैल रहा है। नीचे युद्ध का रव बढ़ रहा था। धीरे धीरे कुछ क्षणों में मनुष्य का सारा चित्र रह गया बन कर केवल रक्त का एक विशाल धब्बा।

कक्ष की नीरवता को भंग कर सहसा परलोक के आदि कवि ने प्रवेश किया। हाथ में वीणा थी, वीणा के तार टूटे थे, मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ थीं, मुख पर उद्विग्नता की लालिमा। काँपते हुए स्वर में कवि ने कहा—"जीवन! देख रहे हो भयानक जन-संहार।"

"हाँ कवि! इसे मनुष्य ने स्वयं आमंत्रित किया है।"

"पर क्या इसका कुछ निराकरण नहीं हो सकता?"

"न! विवशता है कवि।"

कवि क्षणभर मूक रहा।

"जीवन! अगर मैं केवल देवता होता तो शायद निराश होकर बैठ रहता, लेकिन मेरे कन्धों पर कवित्व का भी तो

उत्तरदायित्व है न। आकाश में विहार करते हुए पृथ्वी की समस्याओंका समाधान नहीं हो सकता। मैं स्वयं पृथ्वी पर जाऊँगा।"

और आकाश का कवि पृथ्वी की ओर चल पड़ा।

जब कवि लौटा तो उसके हाथ में था एक कमल-पत्र। उस कमल-पत्र पर थीं शबनम सी चमकती हुई कुछ बूँदें।

"यह क्या है?" मृत्यु ने पूछा।

"यह, यह हैं पृथ्वी की कोमलता के आँसू। इस जनसंहार पर दुखी मानवता के आँसू। माताओं और शिशुओं के आँसू—"

"इनका क्या होगा?" जीवन ने पूछा।

"शायद आँसुओं को छिड़क कर युद्ध की ज्वाला बुझाना चाहते हो। क्यों कवि?" मृत्यु ने व्यंग से पूछा।

"जीवन और मृत्यु दोनों को अभी बहुत समय लगेगा कविता की गति समझने में। पहले देखो फिर व्यंग कर लेना।" कवि ने शान्ति से कहा।

कवि ने एक स्वच्छ तूलिका उठाई; स्वर के समान बारीक। उन स्वच्छ आँसुओं से उसने चारों ओर फैला हुआ रंग पोंछना प्रारम्भ किया।

नीचे युद्ध का रव धीमा पड़ गया। कवि रंग को समेटता गया।

युद्ध की चीत्कार धीमी पड़ती गई। अन्त में सारा रंग सिमट कर हृदय में केन्द्रित होता गया।

युद्ध का रव बन्द हो गया।

कवि ने विजयी आँखों से मृत्यु की ओर देखा; और उल्लास में भर कर एक गीत गा उठा।

थके हुए मनुष्यों ने हथियार रख दिए। कवि के स्वर में स्वर मिला कर गाने लगे प्रेम का सुन्दर गीत—जो प्रतिध्वनित हो उठा दिग-दिगन्त में।

नारी और निर्वाण ०

१२

कालो भोली पुतलियों को उठाकर पलकों की कोरों से लजाती हुई दृष्टि से यशोधरा ने मना किया—"न।"

सिद्धार्थ मुसकराए और उन्होंने पेंग बढ़ाई—

यशोधरा सहम कर बोली, "झूला पृथ्वी के समानान्तर ही रखो कुमार!" "पृथ्वी के समानान्तर? वह झूला ही क्या जो पृथ्वी के समानान्तर रहे—अरे! झूले में तो वह वेग हो, पेंगों की वह ऊँचाई हो कि पृथ्वी झूलने लग जाय यशोधरा!" सिद्धार्थ ने कहा और पेंग लगाई।

वायु के सहसा आघात से यशोधरा के जूड़े में बँधी हुई मृणाल-तन्तुओं की जाली अकस्मात् टूट गई और उसके केश लहरा उठे। यशोधरा ने एक हाथ से रेशम की डोर थामी और दूसरे से स्वर्णपट्ट और अनुनय से कहा, "धीमे धीमे झूलो कुमार! धीमा संगीत अधिक सुखदायी होता है। संगीत का सम अधिक मधुर होता है कुमार!"

"संगीत का सम तो मधुर है किन्तु उसकी मधुरता का आनन्द आलाप की ऊँचाई और स्वरों के घुमाव के बाद ही आता है गोपा।"

झूला बढ़ता गया··· ········।

रसाल की शाखें झूमने लगीं। पास के चम्पक-तरु की डालियाँ गुँथ गईं थीं रसाल की शाखाओं से। चम्पक की डालियों पर थे फूल और फूलों पर थीं वर्षा की बूँदें—शाखें झूमीं और चम्पक-सौरभ से सनी हुई बूँदें सहसा चू पड़ीं। यशोधरा ने अनुनय और प्रार्थनाभरे नेत्र ऊपर उठाए और वे बूँदें चू पड़ीं उसके कपोलों पर-सिद्धार्थ ने देखी उसकी विवशता और उसके मुख पर शवनम सी चमकती हुई सुरभित बूँदें—उन्होंने झूला रोक दिया-यशोधरा ने मुसकरा कर देखा उनकी ओर।

सिद्धार्थ ने चम्पक-सौरभ से भी अधिक मादकता वाणी में उड़ेल कर कहा, "नारी की मूक भंगिमाओं में भी कितने संगीत लहरा उठते हैं, उसके मौन में भी कितने स्वर ध्वनित हो उठते हैं—मुझे झूला रोकना ही पड़ा न।"

यशोधरा धीरे से उतर गई और प्रसंग को उठाते हुए कहा, "झूला तो रोकना ही पड़ता! झूला आगे बढ़े या पीछे पर उसे पृथ्वी पर आना ही पड़ता है संगीत के सम की भाँति और नारी वह सम है आर्य! जहाँ पर घूम फिर कर पुरुष को आना ही पड़ता है।"

सिद्धार्थ अभी झूले ही पर थे, "क्या झूले को पृथ्वी पर आना ही पड़ेगा? क्या झूला आगे ही आगे बढ़ता नहीं जा सकता······?"

"नहीं, कदापि नहीं।" यशोधरा ने उत्तर दिया।

"आश्चर्य है! क्या पुरुष अपने पथ पर सीधे नहीं चला जा

सकता? क्या घूम कर उसे आना ही पड़ेगा नारी के आश्रय में ?"

"अवश्य।" यशोधरा ने उत्तर दिया—

"अच्छा तो देखो!" सिद्धार्थ ने उत्तर दिया, "तुम भूमि से देखो यशोधरा! झूला पृथ्वी पर नहीं लौटेगा, नहीं लौटेगा—वह आगे ही बढ़ेगा—"

सिद्धार्थ ने झूला आगे बढ़ाया—झूला बढ़ता गया, बढ़ता गया। वह रसाल-वृक्ष से ऊँचा हो गया—सहसा रेशम की डोर टूट गई। यशोधरा स्तब्ध थी, पर आश्चर्य से उसने देखा कि स्वर्णपट्ट नीचे नहीं गिरा, ऊपर ही चढ़ता गया······।

सहसा बरसात की काली घटाएँ फट गईं और टूटे तारे के समान सिद्धार्थ उनमें छिप गए। यशोधरा चीख उठी—"कुमार!"

काली घटाएँ हँस पड़ीं और उसकी आँखें खुल गईं। भाल के स्वेद-बिन्दु उसने पोंछे और उखड़े स्वर में कहा, "बड़ा विचित्र स्वप्न था। देखूँ, आय कुशल से तो हैं!"

मणिदीप पर ढँका हुआ कमलपत्र उसने उठा दिया—कक्ष में धीमी हरीतिमा लहरा उठी—उसने मणिदीप उठाया और कुमार के शयनकक्ष की ओर चली।

शिशु राहुल ने प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा उसकी ओर—यशोधरा ने थपथपा कर कहा—"आती हूँ लाल!" और चली सिद्धार्थ के शयनकक्ष की ओर। अर्धरात्रि बीत चुकी थी। शयनकक्ष के समीप जाकर उसने झाँका—शैय्या शून्य थी।

विचित्र आशंका से वह सहम गई—उसने काँपते हुए स्वर से पुकारा, "कुमार!"

आकाश की घटाएँ हँस पड़ीं। वह थी महाभिनिष्क्रमण की रात्रि।

× × ×

टप······················टप··················टप······

वटवृक्ष के नीचे डाल से डाल, पल्लव से पल्लव पर फिसलती हुई वर्षा की बूँदें चू पड़ीं सिद्धार्थ की अंजलि में—उनका ध्यान भंग हो गया और उन्होंने आँखें खोल दीं—पास के झुरमुट में कोयल कूक उठी—"कुहू।"

रसाल के हरे परदे में पपीहा बोला—"पीऊ।"

इस कोलाहल से घबराकर सिद्धार्थ ने आँखें बन्द कर लीं—"मुझे निर्वाण चाहिए। मैं इन बूँदों सा सूक्ष्म बन सकूँ—मैं इस विहग-ध्वनि सा विस्तृत हो सकूँ—मैं जीवन का सत्य देखूँगा, जीवन का सत्य।"

पर सामने के धुँधले वायु-पट में सत्य के स्थान पर चमक उठी नारी की छाया—

"दूर हटो नारी को छाया—मेरे निर्वाण-पथ में बाधक मत बनो। मुझे निर्वाण चाहिए। मुझे भ्रम में न डालो नारी!" छाया और भी पास चली आई—उसके हाथ में विषपात्र है, ऐसा सिद्धार्थ को प्रतीत हुआ।

"कौन यशोधरा?"

"नहीं, मैं हूँ सुजाता—ग्रामाधिपति की कन्या—आर्य यह प्रसाद ग्रहण करें!"—और उसने खीर का पात्र सम्मुख रख दिया।

सिद्धार्थ ने सिर हिला दिया—"न!"

"क्या मेरी पूजा व्यर्थ जायगी!" सिद्धार्थ ने देखा—सुजाता के नयनों में था शहद सा वात्सल्य, चाँदनी सा स्नेह।

"ग्रहण करो न बन्धु!" सुजाता ने कहा और वट में सूत बाँधने लगी—"बन्धु!" सिद्धार्थ ने कहा, "नारी के प्रणयपाश को तोड़ा जा सकता है, पर स्नेह की इस अक्षय वात्सल्य-धारा में मनुष्य को तिनके सा बहना ही पड़ता है।" खीर पान कर सिद्धार्थ ने गहरी साँस लेकर सोचा—

सुजाता वट में सूत बाँध रही थी। "नारी!" सिद्धार्थ ने कहा, "ममता के इन कच्चे सूतों से वट के कितने झंझावातों को बाँध डालती हो तुम!"

सुजाता अपना कार्य समाप्त कर चली गई झुरमुट की ओट में। झाड़ियों में बुद्ध ने देखी फिर यशोधरा, पर वह अकेली न थी, उसके साथ था बालक राहुल।

"यशोधरा! यशोधरा!" यशोधरा की मूर्ति सहसा हट गई–वृक्ष के नीचे थी केवल एक हरिणी और उसके पार्श्व में एक भोला सा मृगशावक—

"क्या मुझे भ्रम हो रहा है!" सिद्धार्थ बोले और फिर उन्हें दीखी यशोधरा–पर इस बार उसके साथ अकेला राहुल न था। यशोधरा के भाल से फूट रही थीं अगणित रजत-किरणें और उसके कोमल अंचल के नीचे कोलाहल कर रहे थे अनेक शिशु। वह अपनी दृष्टि से बरसा रही थी ममता की मृदुल बूँदें—

"नारी! माँ! शक्ति! तुम्हारा यह स्वरूप देवोपम है यशोधरा! मैंने तुम्हें पहचाना न था यशोधरा। सिद्धार्थ उठकर चले उस ओर–पर उठते ही छाया विलीन होगई। नीचे रसाल–वृक्ष के आँचल में लहरा रहे थे दूर्वादल और ऊपर पल्लवों से चू रही थीं वर्षा की बूँदें।

"क्या यह स्वप्न था?"–सिद्धार्थ ने सोचा, "नहीं, जीवन के यथार्थ से कल्पना का यह स्वप्न सत्य था—नारी का यह स्वरूप —मातृत्व की यह छाया—मैं आज तक इससे अनजान था नारी! तुम नारी बनकर इस संसार में बहा देती हो प्रेम की धारा और प्यारे शिशु उसमें जलक्रीड़ा करते हैं। जीवन दुःखमय है पर प्रेम की यह छाया उसमें भर देती है सुख की ज्योति —मुझे निर्वाण नहीं चाहिए। मैं मनुष्य को सुनाऊँगा यह प्रेम

का संदेश—मैं बसाऊँगा प्रेम का, करुणा का वह देश जहाँ के कण कण में निर्वाण बसेगा—मुझे निर्वाण नहीं चाहिए।"

सिद्धार्थ उठ खड़े हुए। सहसा उनके सामने चमक उठा एक असीम ज्योति-पुंज।

"मैं हूँ निर्वाण।" आकाशवाणी हुई।

"मुझे निर्वाण नहीं चाहिए!" बुद्ध ने उत्तर दिया।

"मैं तुम्हारे आश्रय में हूँ बुद्ध!"

"मुझे निर्वाण नहीं चाहिए।" और बुद्ध चल पड़े।

"बुद्ध! जो मनुष्य संसार को आश्रय देने जा रहा हो वह मुझे आश्रय नहीं दे सकता?"

बुद्ध रुक गए. शान्त स्वर में बोले—"तो निर्वाण मेरे चरणों में शक्ति दे कि मैं द्वार द्वार पर जा कर बजा सकूँ प्रेम की वंशी—सुना सकूँ प्रेम का संदेश!"

और वह ज्योति-पुंज समा गया उनकी नख-ज्योति में—पर बुद्ध निर्वाण पाकर भी आकाश की ओर जाने के स्थान पर चल पड़े पृथ्वी की ओर—

× × × ×

सिद्धार्थ थे अब बुद्ध, तथागत, भगवान! संघ की एक विशाल सभा में उपदेश प्रारम्भ होनेवाला था।

सहसा गौतमी ने आकर कहा, "देव!" बुद्ध ने मुड़ कर देखा—माता गौतमी—उन्होंने प्रणाम किया और पूछा, "यह तेजस्वी बालक किसका है माता?"

"यह बालक तुम्हारा—नहीं, यह यशोधरा का बालक है सिद्धार्थ!" गौतमी ने उत्तर दिया।

"कौन राहुल?" झुक कर बुद्ध ने उसके मस्तक को चूमा—"इसके भाल पर स्वर्ण की छाया है गौतमी—इसके नयनों में

करुणा की डोर है—मैं इसे भिक्षु बनाऊँगा—"

"यह आपकी सम्पत्ति नहीं है, यह यशोधरा की सम्पत्ति है आर्य!" आनन्द ने कहा—

बुद्ध बोले—"कहाँ है यशोधरा? बुलाओ, मैं उससे आज्ञा ले लूँ!"

"वह नहीं आयगी!" गौतमी ने उत्तर दिया, "पिपासित जलधार के पास जाता है, जलधार पिपासित के पास नहीं आती।"

"मैं स्वयं चलूँगा...............!" बुद्ध ने उत्तर दिया।

× × + ×

अमा की घोर रात्रि में दूर रसाल-वृक्ष के उस उपवन में दिन का सा प्रकाश हो रहा था। अपने कक्ष के द्वार पर यशोधरा शून्य दृष्टि से देख रही थी उस ओर। उन्हीं पल्लवों में उलझी है उसके जीवन की ज्योति जिसने उसके हृदय में इतना अँधेरा भर दिया है।

उसने गहरी साँस ली और सामने देखा बुद्ध—वह चकित रह गई। जल्दी से गले में आँचल डाल कर उसने चरणस्पर्श किया—

दोनों ने एक दूसरे को देखा और स्तब्ध रह गए।

सहसा बुद्ध ने अनुभव किया कि जैसे उनके हृदय में कोई कुछ बोला—"कौन निर्वाण?"

"हाँ, तथागत! मैं तुम्हारी साधना की तीव्रता सहने में असमर्थ हूँ। मैं जाना चाहता हूँ नारी के स्नेह की कोमल छाया में।"

"जाओ।" बुद्ध ने उत्तर दिया।

जिस समय यशोधरा ने अपना शीश बुद्ध के चरणों पर रखा, उसने अनुभव किया अपने हृदय में झिलमिलाती हुई ज्योति का।

"मैं निर्वाण हूँ—यशोधरा को बुद्ध की एकमात्र भेंट।" ज्योति बोली। "यह देवता की भेंट मेरे भाल पर सुशोभित हो।" यशोधरा ने कहा।

और यशोधरा के भाल का सुहाग-बिन्दु ज्योति से झिल-मिला उठा। बुद्ध ने देखा और मुसकरा दिया।

यशोधरा ने देखा और सचेत हो गई।

"यशोधरा! मैं तुमसे एक भीख माँगने आया हूँ।" बुद्ध ने कहा। यशोधरा मुसकराई। "अन्त में स्वर्ग को भी जीत कर भूले को पृथ्वी पर ही आना पड़ा न?" उसने पूछा।

"क्या! कैसा भूला?" बुद्ध ने पूछा।

"ओह! मैं भूल गई—वह तो केवल स्वप्न था!" यशोधरा ने कहा।

"जीवन ही स्वप्न है देवि! पर उस स्वप्न ही में तो सत्य है।" बुद्ध बोले।

"मैं भी उस स्वप्न में सत्य का आभास ढूँढ रही हूँ तथागत! मेरा तात्पर्य है—अन्त में निर्वाण को नारी के सामने झुकना पड़ा न आर्य।

"नारी! हाँ कह सकती हो! पर निर्वाण प्रणयिनी गोपा के सामने नहीं झुका, वह झुका है राहुल की माता के सामने। निर्वाण नारी के सामने झुका अवश्य—पर तब जब मातृत्व की साधना ने नारी को निर्वाण से भी ऊँची बना दिया।"

यशोधरा हँस पड़ी। "तो मुझे भिक्षा देती हो देवि?"—बुद्ध ने राहुल की ओर संकेत किया।

यशोधरा के अधरों की विद्युत् लुप्त होगई और आँखों में छागईं सजल घटाएँ—रुँधे कंठ से बोली, "ले जाओ।"

मैं इस भिक्षा के लिए तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ देवि! तुम्हारा सुहाग, तुम्हारा निर्वाण अचल रहे।"

और यशोधरा के सिन्दूर-बिन्दु में झिलमिला उठा बुद्ध का निर्वाण।

शिं

जि

नी

०

जिस समय की यह प्रेम-कहानी है उसके कई पीढ़ियों पहले प्रेम के देवता अनंग की मृत्यु हो चुकी थी।

किन्तु प्रेम मर कर भी नहीं मरता, इस संदिग्ध सत्य को सुस्थिर रखने के लिए कामदेव के प्रजाजन गन्धर्वों ने एक विचित्र सा नियम बना रखा था। उनका शासक अनंग मर चुका था। किन्तु वे हर पीढ़ी के लिए अनंग का प्रतीक-एक शासक नियुक्त करते थे। समस्त गन्धर्व लोक से ढूँढ़ कर उस पीढ़ी का सर्वश्रेष्ठ युवक चुना जाता था। उसकी पलकें सपनों के शबनम से भीगी रहती थीं, उसकी तरुणाई की साँसें युग की धूल से अछूती रहती थीं, उसकी नीलम-नसों में कल्पना का सुनहला रस छलकता रहता था। वे उसे लाते थे, उसका अभिषेक करते थे। उसके बाद किसी रहस्यमयी रीति से उसमें अनंग की आत्मा प्रविष्ट कर दी जाती थी और वह गंधर्व लोक का शासक नियुक्त कर दिया जाता था।

उसी पीढ़ी का शासक प्रभात के झोंके सा प्यारा युवक किंजल्क चुना गया था। वह कलाकार था। चुने जाने के पहले वह बादलिया नदियों के तट पर उगे हुए कनकचम्पा के आँसुओं की साँवली छाया में बैठ कर किरणों के तार वाली वीणा पर गाया करता था। लम्बी, पतली, कलामयी उँगलियों से किरणतारों को झंकारते ही उनमें से स्वर की लपटें फूट पड़ती थीं। वह अग्निकला का साधक था। आग की लपटों के स्वर साधता था, आग की लपटों के गीत गाता था, आग की लपटों से प्यास बुझाता था.. ....।

उसके अग्निस्वरों से आकर्षित होकर कितनी ही गन्धर्व-कुमारियाँ उसे प्यार करने लगी थीं। वे उसे अपना स्नेह समर्पण करने आती थीं। किन्तु किंजल्क की कला ने उसके चारों ओर एक अग्निरेखा खींच दी थी, जिससे पार करने का उसे साहस न होता था। किन्तु स्वयं किंजल्क आग की इन लपटों में जल कर कंचन की तरह निखरता जा रहा था। इसी लिए जब गन्धर्वों के पिछले शासक की मृत्यु हुई तो नई पीढ़ी ने इस अछूती तरुणाईवाले युवक को अपना शासक चुना।

आज इसका अभिषेक है।

राजपुरोहित ने आगे बढ़ कर सोनजुही की कलियों का किरीट उसके मस्तक पर रख दिया। किंजल्क ने सिर झुका कर उसका अभिनन्दन किया। पुरोहित ने गम्भीर स्वर में कहा, "आज से तुम हमारे शासक हो। इस किरीट के स्पर्श के क्षण से ही तुममें काम की आत्मा प्रवेश कर गई है। अब तुम गन्धर्व नहीं हो, अब तुम मनुष्य नहीं हो, आज से तुम देवता हो। शासन के लिए तुम्हें यह भूल जाना होगा कि तुम मनुष्य थे। बोलो, स्वीकार है?"

"स्वीकार है।"—किंजल्क ने कुछ अनमने स्वर में कहा।

किन्तु जानते हो काम का अस्तित्व प्यास में है? तुम्हें जीवन भर अपनी प्यास से खेलना होगा।"

"क्यों?" किंजल्क ने विस्मित होकर पूछा।

"क्यों! इसलिए कि तुम देवता हो, उपासना-गृह में सभी को संतोष और तृप्ति का वरदान मिल जाता है। पूजा के फूल रस से भरे होते हैं. आरती के दीप स्नेह से शराबोर होते हैं, उपासकों की वाणी में सरस पूजा-गीत छलकते हैं। इस तृप्ति के वातावरण में वह मूक देवता एक उदास शीतल प्यास में हमेशा घुलता रहता है। जानते हो क्यों? मनुष्य क्षणिकता को प्यार करता है और देवता शाश्वत को। तृप्ति क्षणिक है, मिथ्या है; प्यास शाश्वत है, चिरन्तन है। बोलो, प्यास को प्यार कर सकोगे?"

किंजल्क चुप था। उसने किरीट उतार कर धर दिया और गुलाब सी हथेलियों में रजत-भाल झुका कर मौन चिन्ता में डूब गया। उसकी अछूती तरुणाई पर चिन्ता ने पहला दाग लगा दिया। सारी सभा व्यग्र हो उठी। परिचारिकाएँ केशर कलियों का चँवर डुलाने लगीं—अनुचर मरकत-थाल में तारक-फूलों का सौरभ-जल ले आए।

"बोलो!" राजपुरोहित ने गम्भीर स्वर में पूछा—"प्यास को प्यार कर सकोगे?" किंजल्क ने सिर उठाया और मंत्र-चालित स्वरों में उत्तर दिया—"हाँ!"

सभा खिल उठी। गवाक्षों से झाँकती हुई गंधर्व-कन्याओं ने कहा—"देवता युवराज किंजल्क की जय।"

"ठहरो!" राजपुरोहित ने मना किया—"अभी अभिषेक बाकी है। देवता की प्यास को और तीखी बनाने के लिए उस

पर निरन्तर जल-सिंचन किया जाता है। तुम्हारी प्यास को जीवित रखने के लिए तुम्हारी सेवा में सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी शिंजिनी नियुक्त की जाती है। किन्तु तुम्हें उसे सदा अपनी जीवन-सीमा से परे रखना होगा। आज वही तुम्हारा अभिषेक करेगी। शिंजिनी, आओ।"

बाईं ओर शृंगार-प्रकोष्ठ था। उस पर पड़ा रेशमी चाँदनी का पर्दा हिला और शिंजिनी बाहर आई।

शिंजिनी—उसका सौन्दर्य संध्या-गगन का सौन्दर्य था। हलके गुलाबी सौन्दर्य की दुर्बल मौन प्रतिमा जिसके मुख पर चम्पई उदासी अँगड़ाइयाँ ले रही थी। कच्चे दूध के फेन सी उजली किन्तु नासाज नजरें उठती थीं और चारों ओर टकरा कर फिर जमीन पर गिरती थीं। किसी तूफान से नुए-दुए गुलाब की अन्तिम पँखुड़ी से उसके ओठ रह रह कर काँप उठते थे। उसके कदमों में संगीत था, हलका, धीमा, सिसकता हुआ। वह संगीत जो किसी मूर्छित जल-देवता को जगाने के लिए उदास जल-परियाँ गाया करती हैं। उसकी मुद्रा में रूप और उदासी बिलकुल घुलमिल गए थे। उसकी चाल में उत्सुकता थी, एक हलकी सी खुशी की लहर थी। किन्तु ऐसा लगता था जैसे उस उल्लास की लहर पर आँसुओं की नमकीन उदासी की हलकी सी परत जम गई हो।

वह आगे बढ़ी। एक गन्धर्व-कन्या ने उसके हाथों पर नीलम का थाल रख दिया। उस थाल में एक ओर किरण-फूल रखे थे, दूसरी ओर अभिषेक-जल। तारों की पँखुड़ियों से झरती हुई ओस बटोर कर पुखराज की केशर घोली गई थी।

वह आगे बढ़ी और जावक-रंजित अँगूठे को जल में डुबो कर अभिषेक करना ही चाहती थी कि राजपुरोहित ने कहा—"ठहरो।"

स्वर के आकस्मिक अवरोध से वह सहम गई। उसके सिर पर से खिसक कर वस्त्र कन्धे पर गिर गया। कोमल बेले की ग्रीवा मुड़ी और उसने पुरोहित की ओर देखा। काली जहरीली वेणी ने करवट बदली और कानों में लटकते हुए किसलय-कुंडल रोमांचित कपोलों पर चुम्बन की थपकियाँ देने लगे।

"ठहरो!" राजपुरोहित ने कहा—"तुम कलाकार किंजल्क की नहीं, देवता युवराज किंजल्क की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर रही हो। तुम दोनों का अन्तर समझती हो न?"

"हाँ।" क्षीण सा उत्तर मिला—

"शिंजिनी! नारी की अपनी कोई स्वतंत्र गति नहीं होती। तुम्हें किंजल्क की गति लेकर उसी के समानान्तर देवत्व की दिशा में उड़ना होगा। लेकिन इसका ध्यान रखना होगा कि तुम्हारी थकान कहीं किंजल्क के पंखों का बोझ न बन जाय। बोलो, रख सकोगी इतना अन्तर?"

शिंजिनी ने हाँ कहना चाहा किन्तु उसके उदास रूप की तरलता में उसके स्वर डूब गए। केवल सिर हिला कर उसने स्वीकृति का संकेत कर दिया।

× × × ×

अभिषेक समाप्त हो गया। किंजल्क विश्राम-कक्ष में आया। वह बहुत थक गया था। लगता था जैसे किसी अदृश्य शक्ति ने उसका सारा उल्लास खींच लिया हो। दन्तपत्र-मंडित शैय्या पर वह निर्जीव सा पड़ गया।

उफ! कितना नीरस था वह अभिषेकोत्सव। और वह सोनजुही की कलियों का मुकुट-किरीट कितना दुर्वह था। उसका मस्तक प्रथम स्पर्श में ही जल उठा। हाँ, जब उस कलामूर्ति शिंजिनी ने अभिषेक किया तो उसके अन्तरतम पर

न जाने कौन सी शीतलता छा गई। वह शिंजिनी—कैसा अलौकिक था उसका रूप, कितना सुन्दर, कितना उदास······ सहसा एक विचित्र सी प्यास उसे झकझोर गई और वह व्याकुल सा हो गया। दासियाँ दौड़ीं। एक ने साहस कर पूछा, "आज्ञा देवता युवराज !" देवता युवराज—जैसे किसी ने उसके घावों में नमक भर दिया हो। वह तड़प उठा, कितना ककर्श है, कितना नीरस है यह सम्बोधन।

"कुछ नहीं, जाओ।"—उसने तीखे स्वर में कहा। उसे याद आए वे दिन, जब वह कनक-चम्पा के कुंजों में अपनी वीणा बजाता था और तारा-मृग उसे पुकारते थे–"किंजल्क ! प्रभाती सुनाओ"। काश ! उसे कोई किंजल्क कह पुकारता स्नेह से। उसकी पलकों में प्यास के आँसू छलक आए और उसने वीणा में मुँह छिपा लिया।

सहसा किसी ने पीछे से विहग-शावकों से भी मृदुल स्वर में पुकारा—"किंजल्क !" किंजल्क ने चौंक कर सिर उठाया—"शिंजिनी !" वह असमंजस में पड़ गया। कुछ कहना चाहता था किन्तु अधरों की सारी गति नयनों ने छीन ली थी। उसे इस प्रकार शून्य दृष्टि से अपलक अपनी ओर निहारते हुए देख कर शिंजिनी सहम गई–"क्या कोई अपराध हुआ देवता युवराज ?"

किंजल्क को फिर आघात लगा—"नहीं ! नहीं ! वही सम्बोधन ठीक है शिंजिनी।"

शिंजिनी को इस विनीत स्वर पर आश्चर्य हुआ। किन्तु क्षण भर में उसकी आँखें हँस पड़ीं, न जाने क्या सोच कर। किंजल्क ने देखा—उसकी आँखों में न जाने कौन सी किरणें छलक रही थीं। ठीक वैसी ही किरणें जैसी उसकी वीणा में कसी

हुई थीं। ऐसा जान पड़ता था जैसे उसकी वीणा की किरणें शिंजिनी की नजरों में कस गई हैं। उसके मन में आया कि वह इन्हीं नजरों की किरणों पर अपनी वीणा के स्वर उतार दे।

सहसा शिंजिनी ने कुछ लजा कर कुछ साहस कर पूछा—"तो क्या मुझे किंजल्क कह कर पुकारने का अधिकार दे रहे हैं?"

"अधिकार दे रहा हूँ, इन शब्दों के अर्थ मुझे ज्ञात नहीं शिंजिनी। क्षमा करना, मैं अभी तक तारा-मृग और विहग-शिशुओं के बीच रहा हूँ। न उन्होंने कभी मुझसे अधिकार जैसी वस्तु माँगी और न मैंने दी ही। किन्तु मुझे तुम्हारे संसार की परम्पराएँ नहीं मालूम। शायद यहाँ और कुछ नहीं, केवल अधिकारों का क्रय-विक्रय होता है।"

शिंजिनी कुंठित हो गई। उसने कुछ कहना चाहा किन्तु न जाने क्या सोचकर विषय बदल दिया। वह आगे बढ़ी और किंजल्क की शैय्या के समीप रखी हुई चन्दन की चौकी पर बैठ गई।

"अच्छा, किंजल्क तुम्हें अपने जीवन पर संतोष है?" उसने किंजल्क की नजरों पर अपनी किरणोंवाली नजरें डाल कर पूछा।

"क्यों? असन्तोष क्यों होता? मैंने कभी सन्तोष की कामना ही नहीं की शिंजिनी, तो असंतोष का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है?"

"मैं देवता युवराज से नहीं, किंजल्क से पूछ रही हूँ। क्या वह सदा से प्यास का उपासक रहा है?"

"हाँ, शिंजिनी! उसे कभी भी तृप्ति में कोई आकर्षण ही नहीं दीखा।"

"आश्चर्य है, किंजल्क! तुम्हें तृप्ति से इतना विराग क्यों

है ? क्या इसलिए कि वह क्षणिक है ?"

"हाँ, इसलिए कि क्षणिक सत्य नहीं होता। मैं देवता हूँ, मेरा आधार सत्य है।"

"तुम गलत सोचते हो किंजल्क ! सत्य की माप समय और काल की सीमाओं से नहीं होती है। तृप्ति, प्यार, मोह, वासना केवल इसलिए असत्य नहीं कहे जा सकते कि वे क्षणिक हैं।"

"तो तुम सत्य का मापदंड क्या मानती हो ?"

"सत्य का मापदंड सम्पूर्णता है किंजल्क ! यदि कोई क्षणिक आवेग अपने में जीवन की सम्पूर्णता समेट लेता है तो मैं उसी को सत्य मानने के लिए तैयार हूँ। किन्तु यदि कोई शाश्वत साधना जीवन के एक खंड को आधार बना कर दूसरे खंडों को कुचल देती है तो मैं उसे सत्य नहीं समझ सकती। मैं मोह में विश्वास करती हूँ। मैं तृप्ति में विश्वास करती हूँ।"

किंजल्क को लगा जैसे शिंजिनी की नजरों की किरणें उसकी नसों में चुभी जा रही हैं। उसके चेहरे की चम्पई उदासी ने करवट बदल ली थी और वहाँ एक मंजुल प्रभात मुसकरा रहा था। शिंजिनी की बातों ने, उसके रूप ने न जाने कहाँ आघात किया था और उस मधुर घाव में एक अनोखी कली खिल रही थी जिसके मादक सौरभ से वह अनजान में ही विभोर होता जा रहा था। फिर भी उसने पूछा—"यदि तुम तृप्ति में विश्वास करती हो तो कल तुमने प्यास की शपथ क्यों ली थी ?"

"केवल तृप्ति को और मधुर बनाने के लिए किंजल्क ! तुम्हारे चरणों के समीप रहकर अपनी प्यास को जाग्रत रख कर अपनी तृप्ति के क्षण को और भी तीखा बनाने के लिए देवता !"

"किन्तु तृप्ति प्यास की तो हत्या कर देती है। तृप्ति जीवन

की गति के आगे विराम-चिह्न बना जाती है शिंजिनी! इसलिए अनंग का अस्तित्व प्यास में ही माना गया है।"

"जो तृप्ति को प्यार नहीं कर पाया वह भला प्यास को कैसे प्यार कर सकेगा? रहा अनंग, वह तो एक कायर देवता था जो आकाश की शून्यता से घबरा कर धरती की ओर चला, किन्तु धरती की मांसलता से टकरा कर चूर चूर हो गया।"

किंजल्क का ध्यान वार्तालाप से हट चुका था। वह नजरें बचा कर देख रहा था शिंजिनी की किरणमयी निगाहें तथा काँपते ओठ और हर बार तृप्ति शब्द पर रोमांचित हो उठने-वाले अरुण कपोल। अगर इन कपोलों पर निराशा की एक हलकी सी तरल छाया पड़ जाय तो रूप की मादकता कितनी बढ़ जाय। इसलिए उसने हठात् कह ही तो दिया, "नहीं! नहीं! मैं तुमसे कभी सहमत हो ही नहीं सकता।"

"शाबास किंजल्क!" दूसरे कोने से आवाज आई। उसने देखा—राजपुरोहित। शिंजिनी उठ कर चली गई।

"मुझे तुमसे यही आशा थी। शिंजिनी को मैंने ही भेजा था—यह देखने के लिए कि तुम अपनी शपथ पर अटल हो या नहीं।"

किंजल्क को लगा जैसे किसी ने उसके हृदय में अभी अभी खिली मंजुल कली को बिजली के परों से मसल दिया हो। उसने रुँधे गले से पूछा—

"तो शिंजिनी को आपने भेजा था?"

"हाँ!"

"तो यह उसका अभिनय मात्र था?"

"हाँ!"

उसे लगा जहाँ अभी एक कोमल कली खिली थी वहाँ अब एक जहरीला काँटा निकल आया है। उसकी चुभन से व्याकुल

हो कर वह खड़ा हो गया, बेचैनी से टहलने लगा—

"नहीं, मैं तृप्ति में विश्वास नहीं कर सकता। और वह तृप्ति भी किससे? जहर के प्याले से? नारी से? वंचनामयी नारी—मैं उसे जहर समझता हूँ—मैं उससे घृणा करता हूँ।"

"प्रत्येक देवता नारी से घृणा करता है।" राजपुरोहित ने धीरे से कहा और बाहर चला गया।

किंजल्क पागल सा हो रहा था। कुछ क्षणों पहले जीवन में पहली बार उसने नारी का प्यार पाया था और दूसरे ही क्षण उसे उस प्यार को कुचलना पड़ रहा था। घृणा से उसकी नसें फटी जा रही थीं। उसने चारों ओर पागलों की सी निगाह डाली।

सामने एक प्रस्तर-मूर्ति के हाथों में उसकी वीणा रखी थी—फूलों से ढकी और फूलों के बीच से किरणें चमक रही थीं। उसने वीणा उठाई और बजाना चाहा। घृणा के आवेग से उसकी उँगलियाँ काँप रही थीं। उसने झंकार दी और एक सिसकती हुई आवाज सी उठी और लो, घृणा की उँगलियों के छूते ही कला मर गई तथा किरणों के तारे सहसा बुझ गए। उसने झल्ला कर वीणा पटक दी और फिर बेचैनी से टहलने लगा।

× × × ×

उधर शिंजिनी अपने कक्ष में पहुँची। सखियाँ उसकी प्रतीक्षा में थीं। एक ने आगे बढ़ कर उसके वस्त्र बदले और दूसरी ने उसकी शैय्या सँवार दी। वह आगे बढ़ी, शैय्या के सिरहाने बने हाथीदाँत के मयूर की गर्दन में बाहें डाल कर बैठ गई और शान्ति की एक साँस ली।

"कहो! आज जीवन में पहला अभिनय करने गई थीं, सफल हुई?"

"पहला अभिनय! हाँ सखी, गई तो इसी उद्देश्य से थी, किन्तु वहाँ जाकर ऐसा लगा जैसे आज तक का सारा यथार्थ जीवन, यह प्यास की साधना, यह सब केवल एक अभिनय था, एक सपना था जो किसी बहुत बड़े सत्य के आलोक में घुल गया। आज का अभिनय जैसे जीवन बन बैठा हो।"

"पागल तो नहीं हो गई हो?"

"हो सकता है।" शिंजिनी ने कहा, "किन्तु मैं जानती हूँ कि पहले वाक्य के बाद मैंने जो कुछ कहा, हृदय से कहा। उस मृगशावक से भोले किंजल्क से प्रवंचना करने का साहस ही न हुआ।"

"यह क्या कर आईं तुम?"

"मैं कुछ नहीं कर आई। मैं सचमुच पागल थी। अपने आपे में नहीं थी। न जाने किस अदृश्य शक्ति ने अभिनय को इतनी गहराई दे दी थी कि वह सत्य बन गया। उफ! मैं उसे प्यार करती हूँ। उसने कहा था कि मुझे किंजल्क कह कर पुकारो। किंजल्क-शिंजिनी, शिंजिनी-किंजल्क।"

पास के पिंजरे में लटकी सारिका ने पंख फड़फड़ाए और बोल उठी, "······शिंजिनी-किंजल्क।"

शिंजिनी हँसी और फिर लज्जित होकर एक सखी के वक्ष में मुँह छिपा लिया और उसके गले में बाँहें डाल कर बेहोश सी पड़ रही।

× × × ×

पूर्व दिशा में जब नीलम की डाल पर पहला किरण-फूल फूला तो शिंजिनी किंजल्क को जगाने चली। उसने धीरे से कक्ष-पट खोला और भीतर झाँका। वह जगाने किसे चली है? किंजल्क तो स्वयं ही बैठा है। अपलक दृष्टि से वातायन के बाहर झाँकते हुए उसकी पलकें जागरण से सूज कर पुष्प की

भाँति लाल हो गई हैं।

"किंजल्क!" उसने बड़े मीठे स्वर में पुकारा—किंजल्क का ध्यान भंग हुआ। उसने इधर देखा और देखते ही फिर मुँह फेर उधर देखने लगा और भारी स्वर में कहा—"बाहर जाओ शिंजिनी! जब आवश्यकता होगी तो ....।"

शिंजिनी अवाक् रह गई और फिर धीमे धीमे वापस आई। वह शैय्या पर पड़ कर सिसकने लगी। सिसकती रही......।

एक घड़ी बीती, एक दिन बीता, एक सप्ताह बीत गया। किन्तु किंजल्क ने न बुलाया। वह व्याकुल हो गई। उठी-शृंगार किया। केशों को धूपित कर मालती-माला से जूड़ा सँवारा, कानों में कनेर की कलिकाएँ लगाईं और किंजल्क के भवन की ओर चली—

किंजल्क मंत्रणा-गृह से बाहर आ रहा था। शिंजिनी को देखते ही ठिठक गया, फिर अवहेलना के स्वर में कहा—"मैं राजकीय कार्यों में बहुत व्यस्त हूँ। क्या कोई विशेष कार्य है?"

"नहीं, कोई विशेष कार्य तो नहीं।"—शिंजिनी ने रुलाई रोकते हुए कहा, "देवता युवराज स्वस्थ तो हैं?"

"हाँ स्वस्थ हूँ, अस्वस्थ रहने की कोई आवश्यकता भी नहीं समझी मैंने। अच्छा।" कह कर मंत्रणा-गृह की ओर मुड़ गया। "कैसा आडम्बर रचती हैं ये प्रवंचना की पुतलियाँ।"

शिंजिनी को जैसे किसी ने लपटों से सींच दिया। वह खड़ी न रह सकी, डगमग पैरों से अर्द्धमूर्छित सी चल दी अपने भवन की ओर।

× × × ×

गंधर्व अपने राजा से बहुत सन्तुष्ट थे। चौबीस घंटे केवल प्रजा का ध्यान-न कोई व्यक्तिगत व्यसन, न कोई अपना स्वार्थ।

गन्धर्वों की रीति थी कि उनका राजा या राजपुरोहित चिकि-त्सक हुआ करता था। रहस्यमय वशीकरण और मंत्रों के सहारे वह उनकी चिकित्सा करता था। दिन हो या रात, किंजल्क सदा उनकी सहायता के लिए प्रस्तुत रहता था।

एक दिन दूत ने आकर कहा, "शिंजिनी बहुत बीमार है।"

"राजपुरोहित से कहो।"

"वे असफल होकर लौट आए।"

वह असमंजस में पड़ गया। उसके दिल की हर धड़कन घृणा से कह रही थी—"मत जाओ किंजल्क! यह भी एक नया आडम्बर है।" मगर न जाना राजमर्यादा के विरुद्ध था और वह गया।

भवन पर उदासी छाई थी। द्वार-प्रतिमाओं के हाथों में लटकती हुई स्वागत-मालाएँ मुरझा गई थीं। पिंजरों में विहग अपने पंखों में मुँह छिपाए चुपचाप बैठे थे। मृगशावक चौकड़ी भरना भूल गए थे और बुझे हुए दीपों के नीचे मुँह लटकाए उदास खड़े थे। द्वार पर बिछे हुए फूल बदले नहीं गए थे और बिछे बिछे वहीं सूख गए थे। दुग्ध-फेन से कोमल फूलों की शैय्या पर घायल पंखोंवाली तितली की तरह शिंजिनी लेटी थी, शान्त, मलिन, निष्प्राण सी।

किंजल्क ठिठक गया। आज भी शिंजिनी के मुख पर उसे उसी गुलाबी उदासी का आभास मिला जिसने उसे पहले आक-र्षित किया था। जूड़े में बँधा हुआ मृणाल-तन्तु टूट गया था और भौंराली अलकें उसके मुख के चारों ओर बिखर गई थीं। मुँह पर एक अजीब मधुमासी पीलापन था। श्वास नहीं ठहर रहा था और हर बार के श्वास-प्रश्वास में वक्ष पर बँधी हुई मुकुल-माला का एक पुष्प टूट कर गिर पड़ता था। भाल पर

रोली से बने कमल की पँखुरियाँ क्षत-विक्षत हो गई थीं।

वह चुपचाप गया और सिरहाने खड़ा होकर मंत्र पढ़ने लगा--"तुम्हारे मन की उमड़ती हुई जहरीली घटाएँ लौट जायँ। पसलियों में टकराती हुई काली आँधी शान्त हो जाय। तुम्हारे मनोविकार शान्त हों। तुम्हारी वासनाएँ शान्त हों।"

शिंजिनी ने पलकें उठाईं--यह देखने के लिए कि यह कौन कह रहा है। उसने देखा--किंजल्क निष्प्राण यंत्र की भाँति पथरीले स्वर में दुहरा रहा है—"तुम्हारी वासनाएँ शान्त हों।"—मारे दर्द के उसकी आँखों में कुछ जल देवता छलक आए। उसने कराह कर करवट बदली। उसे हिलते हुए देख कर सारिका बोली, "शिंजिनी!" और पर फुला कर चहकने लगी, "शिंजिनी-किंजल्क, किंजल्क—शिंजिनी!"

शिंजिनी बेचैन हो उठी और करवट बदल कर उसने कातर निगाहों से किंजल्क की ओर देखा.........। किंजल्क को लगा जैसे उसकी नजर की चिनगारी उसकी पसलियों को चीरती हुई उसके दिल में बैठ गई। जैसे किसी ने उसकी नसों को झकझोर दिया। उसके खून की बूँद बूँद सुलग उठी। "तुम्हारी वासनाएँ.........तुम्हारी वासनाएँ अमर हों।" उसने कहा और पागलों की तरह झुक कर शिंजिनी के ओठ चूम लिए। फिर मूर्छित सा उसकी अलकों में मुँह छिपा कर बैठ गया। शिंजिनी-बीमार, थकी शिंजिनी मलयज का पहला झोंका पाकर सो गई।

सहसा दिशाओं को कँपाता हुआ भयंकर झंझावात उठा। अधर-स्थित गन्धर्व लोक कमजोर टहनी में लगे हुए फूल की तरह हिलकोरे लेने लगा। किंजल्क उठा। वह न जाने किस मखमली नशे में चूर था। डगमग कदमों से वह अपने महल में

गया। तेज हवा के झोंकों में दीप बुझ चुके थे। लेकिन उसने देखा कि उसकी वीणा के बुझे हुए किरण-तारों में फिर प्रकाश लौट आया है और वे चन्द्र–किरणों की तरह जगमगा रहे हैं।

वह खुशी के मारे चीख उठा और बिना तूफान की परवाह किए हुए गाना शुरू किया—"मेरी तृप्ति की रानी ! मेरी प्यास की प्रेरणा ! मैं आज से जीवन के आरोह–अवरोह का स्वागत करता हूँ। मैं साधना को प्यार करता हूँ। मैं गुनाहों की रंगीनियों को भी प्यार करता हूँ। मैंने जीवन का सत्य पहचान लिया है। जीवन की पूर्णता में प्यास भी सत्य है और तृप्ति भी। संयम भी सत्य है और वासना भी। मैं भी सत्य हूँ और तुम भी। सत्य हम दोनों के प्यार का नाम है ………।"

× × × ×

प्रातःकाल हुआ—सारा गन्धर्व लोक संत्रस्त था। वे अपने देवता के पतन पर क्षुब्ध थे। राजपुरोहित ने कहा—"देवता युवराज को इसका प्रायश्चित्त करना होगा।" प्रजा अपने देवता को असीम प्यार करती थी। "देवता का इसमें कोई अपराध नहीं है। सारा अपराध शिंजिनी का है।" एक ने कहा—

"ठीक है।" दूसरा बोला, "अपराध सदा नारी करती है। पुरुष तो अनजान है--निर्दोष है।"

और पुरुषों के उस समूह ने एकस्वर से नारी के विरुद्ध अपना निर्णय दे दिया।

× × × ×

शिंजिनी अपने श्वेत मयूर को सरोवर के तट पर मृणाल खिलाने जा रही थी कि लता-कुंज को चीर कर हाँफती हुई एक सखी ने कहा–

"कुछ सुना तुमने ?"

"क्या ?"

"जनता देवता पर क्षुब्ध है।"

शिंजिनी सहम गई। क्षण भर खड़ी रही। मन ही मन कुछ सोचती रही और फिर मयूर को एक ओर छोड़ कर बाहर भागी। राजपुरोहित से कहा—"अपराधिनी मैं हूँ, दंड मुझे मिलेगा।"

"ठीक है।" राजपुरोहित ने कहा, "पापिनी आत्मा स्वयं अपना दोष स्वीकार कर रही है—किन्तु दंड का निर्णय देवता को करना होगा। तुम यहीं रहो।"

राजपुरोहित चले गए। शिंजिनी चुपचाप सोचने लगी। जिसको वह मुक्ति नहीं दे पाई उसे बन्धन देने क्यों चली थी। उसने प्यार किया किन्तु फिर अपने देवता से सर्वस्व क्यों माँगा। सर्वस्व माँग कर फिर और माँगने के अवसर को, आशा के स्पन्दन को, प्यास के सुख को सदा के लिए खो दिया। उसने निश्चय किया-अब वह प्रतिदान न लेगी—कभी न लेगी।

× × × ×

किंजल्क ने सुना, जनता में उमड़ता हुआ क्रोध। उसने कुछ भी ध्यान न दिया। उसे कुछ भी परवाह न थी गन्धर्व लोक की। कल उसे शिंजिनी से जो कुछ मिला उसके सामने किरीट, राजदंड, देवत्व सब तुच्छ थे-बहुत ही तुच्छ। उसे नहीं चाहिए कुछ भी। वह शिंजिनी के प्यार के सहारे सभी कुछ सह सकता है-निर्वाण भी, दंड भी।

राजपुरोहित आया। किंजल्क सचेत हो गया। राजपुरोहित ने आगे बढ़कर कहा—"देवता युवराज को चिन्ता करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शिंजिनी ने स्वयं अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।"

"क्या?" किंजल्क को अपने कानों पर विश्वास न हुआ। "क्या उसने यह स्वीकार कर लिया कि उसने प्रेम करके अप-

राध किया है ? क्या वह अपने प्रेम को लेकर विद्रोह नहीं कर सकती ?"

"उसे केवल अपने अपराध के प्रायश्चित्त की आवश्यकता है।"

किंजल्क का विद्रोह सहसा बुझ गया। उसने कल जो प्रेम शिंजिनी से पाया था, जिसके आधार पर वह विद्रोह करने जा रहा था उसी को शिंजिनी ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया था। तो क्या फिर वह शिंजिनी का दूसरा अभिनय था ? उसका सिर फटा जा रहा था।

"देवता उसके लिए दंड का निर्णय करें।"

किंजल्क ने बेबस निर्जीव निगाहों से राजपुरोहित को देख कर कहा—"जिसने विद्रोह की प्रेरणा दी थी, अधिकार दिया था, जब उसी ने मुँह फेर लिया तो दंड किसकी शक्ति से दूँ ? उसी ने इसे अपराध स्वीकार किया है। उसी से कहो दंड दे ले अपने को भी और मुझे भी।" और किंजल्क भोले बच्चे की भाँति सिसकने लगा।

राजपुरोहित शिंजिनी के पास गया और बोला—"शिंजिनी! देवता युवराज तुम्हारे अपराध पर दुःखी हैं, बहुत दुःखी। वे तुम्हारे पतन पर इतने क्षुब्ध हैं कि वे दंड का भी निर्णय नहीं करेंगे। तुम स्वयं अपने लिए दंड सोच लो।"

शिंजिनी अवाक् रह गई। वह किसी भी दंड के लिए तैयार थी यदि वह गन्धर्वों की ओर से मिलता। किन्तु किंजल्क उसे अपराधिनी समझेगा इसका उसे स्वप्न में भी ध्यान न था। यह उसका नहीं, उसके प्रेम का अपमान था। वह व्यथा से पागल होकर बोली—"तुममें शायद सच में देवता की आत्मा प्रवेश कर गई है किंजल्क! अन्यथा तुम इतना पथरीला निर्णय न देते। कोई बात नहीं। तुम्हारा प्यार मुझे मिला था। तुम्हारी परीक्षा

भी मैं ही लूँगी। तुम्हारा दंड भी मूल्यवान है देवता! तुमने कम से कम उपेक्षा के योग्य तो समझा।"

उसने आँसू से भीगे हुए ओठ दाँतों से दबा कर कहा—"मैं जानती हूँ राजपुरोहित! जा रही हूँ गन्धर्व लोक से मैं। स्वर्ग शायद मेरा अभिशाप न सम्हाल सकेगा। पर धरती की चट्टान की छाती पर तो अपनी व्यथा को पटक कर चूर चूर कर सकूँगी। अच्छा, बिदा! देवता किंजल्क देवता गन्धर्वों की रक्षा करें।"

और धरती के निवासियों ने देखा–सुदूर आकाश में एक सुधामयी तारिका टूटी और अतुलित प्यार के पंखों पर तीर की तरह मड़राती हुई धरती की मांसलता से टकरा कर चूर चूर हो गई। उस उल्कापात के क्षणों में शरद का चन्द्र अद्भुत उदास पीलेपन से काँप उठा। रात्रि रानी का सौरभ सहसा सिसक कर बेसुध हो गया और कलियों के रक्त से सने हुए काँटों की नोक पर चन्द्र–किरणों के शव गिर पड़े।

———

स्व
प्न
श्री
औ
र
श्री
रे
खा
०

१४

"उँह, तू तो पल भर भी सीधा नहीं बैठता।" एक हाथ से अपनी तूली को पट्टिका पर पोंछते हुए और दूसरे हाथ से वीणा के तारों में उलझे हुए राजहंस के पैरों को सुलझाते हुए श्रीरेखा झल्ला कर बोली। आज जब पत्रिका का उत्सव था और मृत्यु के लिए वह अपने राजहंस के पंख चित्रित कर रही थी। राजहंस इस स्नेह की फटकार को सुनकर क्षण भर के लिए चंचल हो उठा और फिर श्रीरेखा की गोद में अपनी गर्दन छुपा कर चुपचाप बैठ गया। श्रीरेखा ने दाएँ पंख पर भौंरों की प्रत्यंचा पर रसाल-मंजरी का पुष्प-बाण साधे हुए अनंग का रेखा-चित्र बनाया और फिर रुक गई। बाएँ पंख पर क्या बनाए? उसने एक अधखिले गुलाब में छिपे हुए भौंरे की रेखाएँ खींचीं। सहसा पास की शैय्या पर सोई हुई स्वप्न-श्री ने करवट बदली और उसके वक्ष पर रखे हुए रजत–

घुँघरू नीचे गिर पड़े। उसका ध्यान बँट गया। नृत्य से थक कर स्वप्नश्री पास की शैय्या पर अलसा कर लेट गई थी। घुँघरू उतार कर उन्हें वक्ष पर रख कर क्षण भर देखती रही— धीरे धीरे आम के बौरों को चूम कर आते हुए रेशमी झोंकों ने उसकी चेतना पर जादू फेर दिया और वह सो गई। श्रीरेखा ने उसकी ओर देखा—

मोतियों की किनारीवाला आँचल सर से खसक कर नीचे गिर गया था। करवट लेने से दब जानेवाली एक जुही की कली का चिह्न उसके गालों पर उभर आया था। दुहरी वेणी गूँथ कर उन्हें कानों के पास श्याम कमलों की तरह लपेट दिया गया था किन्तु उनके गुम्फन में उलझी हुई बेले की कलियाँ अस्तव्यस्त हो गई थीं। श्वास के श्रम से शिशिर के बादल जैसी पतली गोरी गर्दन पर नाज़ुक आसमानी नस उभर आई थी। ओठ रह रह कर काँप उठते थे और झिलमिली पलकों में पुतलियों पर मड़रानेवाले सपनों के इन्द्रधनुषी पंख साफ झलक रहे थे।

श्रीरेखा ने इस सोते हुए उदास सौन्दर्य की ओर क्षण भर मादक आग्रह से देखा और फिर सहसा उसकी आँखों से शरारत छलक उठी। उसने चित्रित भौंरे की रेखाएँ कर्पूर-जल से धो डालीं और एक सूक्ष्म तूलिका से राजहंस के बाएँ पंख पर सोती हुई स्वप्नश्री का चित्र बनाने लगी। थोड़ी देर में एक स्थूल रेखा-चित्र बनाकर उसने फिर स्वप्नश्री की ओर देखा और दोनों में सामंजस्य देख कर सन्तोष की साँस ली। स्वप्नश्री के ओठ रह रह कर हिल रहे थे और उन पर एक उनींदी मुसकान खेल रही थी। वह कोई सपना देख रही थी।

उसने फिर तूली उठाई और राजहंस की गर्दन सीधी की।

अपनी मांसल बाँईं भुजा पर उसकी गर्दन सम्हाली। राजहंस उसके नीलम–कंचुक पर अपना सिर रख भोली भोली आँखों से उसकी ओर देखने लगा। श्रीरेखा ने उसकी आँखों के दोनों ओर दो वृत्ताकार इन्द्रधनुष बनाए और फिर उसे छोड़ दिया। उसने अपने पर फैलाए, गर्दन मोड़ी और अँगड़ाई लेकर खड़ा हो गया। "जा, स्वप्नश्री को जगा ला, चल।" उसकी ग्रीवा को किसलय के गुच्छे सी मृदुलता से थपथपा कर श्रीरेखा बोली और एक कुहनी से टिककर दूसरे हाथ से वीणा के तारों को छेड़ने लगी। हंस ने एक बार मुड़कर अपनी स्वामिनी की ओर देखा और फिर झंकार की लय पर चलता हुआ स्वप्नश्री के पास जा पहुँचा। उसके दुपट्टे में टँके हुए मोती को चोंच में लेकर खींचने लगा। स्वप्नश्री सहसा चौंक कर जग गई। "अरी, यह क्या पागल हो गई है?" अपने आँचल को सम्हालती हुई स्वप्नश्री उठ बैठी। "अरे, तू है दुष्ट!" उसने हंस को देखकर कहा और गोद में लेकर उसे प्यार करने लगी।

"अच्छा, अभी तक चित्रकारी कर रही थी! यह अनंग का चित्र बनाया है। आज कल उसी को इष्टदेव माना है क्या?"

श्रीरेखा मुसकराई। "वह मेरा इष्टदेव थोड़े ही है। दूसरे पंख पर देखो। रति सोई हुई अनंग का ध्यान कर रही है। अनंग उसी के स्वप्न में विहार कर रहा है।"

स्वप्नश्री ने दूसरा पंख देखा और अपना रेखा-चित्र देख-कर बेहद शरमा गई। दूसरे ही क्षण बोली—"बड़ी शरारती है। अच्छा बताऊँगी तुझे भी.........।"

"मुझे क्या बताओगी? स्वयं तो अनंग के सपनों में डूबी

रहने लगी हो। हाँ, और क्या? मधुमास का नशा ही ऐसा होता है।"

"सच री श्री, सपना तो जरूर देख रही थी……।"

"अनंग का न?"

"धत्! अनंग का नहीं, वह जो अयन-आँगन में रातरानी है न। तो मैंने देखा उसकी एक तरुण कली में चाँदनी की रेखा छिपकर बैठ गई। सुबह हुई और उस किरण को अपनी पलकों में छिपा कर वह अलसाई हुई कलिका सो गई। थोड़ी देर बाद एक भौंरा आया और प्रभाती गाकर उसे जगाने लगा। जब वह नहीं जागी तो एक पंख से उस पर छाँह कर ली और दूसरे पंख से उस पर बिजन डुलाने लगा। फिर उसके बाद क्या हुआ श्रीरेखा कि वह भीतर सोई हुई चाँदनी की किरण सहसा हवा लगने ही अंगारों की तरह धधक उठी और वह अभागी कलिका अपने अन्तर्ताप से ही मुरझा कर गिर गई।" स्वप्नश्री ने एक गहरी साँस लेकर कहा।

श्रीरेखा क्षण भर स्तब्ध रही, फिर मुसकराने का यत्न करती हुई बोली—

"छिः! ऐसे दुःखभरे सपने मत देखाकर।"

"वाह! जैसे सपने देखना न देखना अपने हाथ में है। मुझे तो खुद अचरज होता है कि न जाने कहाँ से ये निर्मम सपने आकर हृदय मरोड़ जाया करते हैं। इन्हें जैसे मुझी से दुश्मनी है।"

"हर एक बुद्धिमान अपने लिए रूपवान सुकुमार दुश्मन ढूँढ़ा करता है रानी! फिर इन सपनों ने तुझी से दुश्मनी पाली है तो क्या आश्चर्य?"

"चल, तुझे हमेशा मजाक सूझता है।"

मेरे लिए तो जीवन केवल एक मजाक है स्वप्नश्री; वरना मैं भी सपने देखकर रोती होती। मैं तेरी तरह थोड़े ही हूँ। मैं तो हर वस्तु के पीछे उसका वैषम्य, उसका अन्तर्विरोध देखकर हँस लेती हूँ, तू रो लेती है।"

"यही तो मेरी दुर्बलता है श्री! मुझे तो जीवन की हर चीज के पीछे न जाने कैसी प्यास घुटती हुई मालूम पड़ती है। लगता है जैसे सारा जीवन एक मूक वेदना, एक अतृप्त तृष्णा के डोरे में गुँथा हुआ है। मैं उनकी झुलस का अनुमान करती हूँ और मेरा हृदय रो पड़ता है।"

"मैं तो जीवन को इतनी गम्भीरता से लेती ही नहीं कि रोना पड़े। जीवन मौका पाकर हम सभी को तोड़ डालने का यत्न करता रहता है। मैं कभी उसे इतना महत्त्व ही नहीं देती कि वह अपना जाल मुझ पर फैला सके। वह अपना वार करे, तुम मुसकरा कर मुँह फेर लो; जीवन कुंठित होकर स्वयं ही हार मान लेगा।"

"पगली! जीवन इतना अवसर ही नहीं देता कि तुम मुँह फेर सको, मुसकरा सको। वह तो पहले से ही मन को जकड़ कर तब अपना प्रहार करता है। तब उस असत्य वेदना से छुटकारा पाया नहीं जाता और वह पीड़ा सही नहीं जाती। इतने विलास, इतने सुख के होते हुए भी मेरे लिए जीवन है गम्भीर अनुभूति की वस्तु और है छलकते हुए आँसुओं की वस्तु।"

"और मेरे लिए जीवन है उन्मुक्त क्रीड़ा की वस्तु तथा झरने की तरह निर्बाध उल्लास की वस्तु।"

"द्वार पर पुष्परथ तैयार है।" दासी ने कहा। दोनों उठ खड़ी हुईं। रथ फूलों से सजा हुआ था। श्रीरेखा ने आगे बढ़कर रेशमी रास अपने हाथों में ले ली और स्वप्नश्री पीछे

अधलेटी सी हंस की आँखों पर वने इन्द्रधनुष के रंग गिनने लगी। पहिए में लगे घुँघरू झनकार उठे। रथ चल पड़ा।

नवपत्रिका श्रावस्ती का विशेष उत्सव था। फाल्गुन समाप्त होते होते जब आम बौर उठते थे और चैती बयार के हलके गुलाबी झोकों पर तैरती हुई कोयल की नशीली कूक प्रभात के सपनों को गुदगुदाने लगती थी तब श्रावस्ती की कुमारियाँ नवपत्रिका उत्सव मनाती थीं। प्रातःकाल होते ही वे सोने के थालों में उपहार सजा कर आम के नए चिकने पत्तों पर स्नेह-सन्देश लिख कर सखियों के पास भेजती थीं। उसके बाद सब नगर के बाहर उपवन में जाती थीं और वहाँ संगीत तथा नृत्य के आयोजन होते थे। नगर-सेठ की चंचल कन्या श्रीरेखा इन आयोजनों का प्राण थी। नगरपति मायुलिक की पुत्री स्वप्नश्री अपने स्नेह और गांभीर्य से इन उत्सवों को संचालित करती थी और श्रीरेखा अपनी मस्ती से छलकती हुई शरारत और गुदगुदाते हुए परिहास से समस्त उत्सव पर सुनहला कुंकुम बिखेर देती थी। दोनों अभिन्न सखियाँ थीं; किन्तु स्वभाव में बिल्कुल विरुद्ध। श्रीरेखा लम्बी, पतली, लहराती हुई धूमरेखा की तरह चंचल थी और स्वप्नश्री गुलाब की पँखुरियों पर सम्हल सम्हल कर चलती हुई, संगमरमर की गांधार प्रतिमा की तरह शान्त, भावुक और सुकुमार।

उत्सव प्रारम्भ होने के पहले किसी कुमारी को उस दिन के उत्सव की रानी चुना जाता था। सबने कहा—"आज के उत्सव की रानी स्वप्नश्री होगी।" श्रीरेखा तुरन्त बोली, "ठहरो! इसके लिए मैंने इस वर्ष नई कसौटी रखी है। मैंने बाँस का एक हलका सा रथ बनवाया है जिसमें चार पालतू मृग जुतेंगे। जो कुमारी इतनी हलकी हो कि उसे मृग खींच सकें, वही आज

की रानी होगी।" सब की सब खिलखिला कर हँस पड़ीं। स्वप्नश्री हँसते हुए बोली—"तो यह कह कि आज स्वयं साम्राज्ञी बनने का षड्यन्त्र रच रखा है।" "नहीं!" श्रीरेखा मुसकराहट को ओठों में दबा कर बोली, "पहले तू ही चढ़ना; अगर हरिण तेरे आँसुओं का भार सम्हाल लेगए तो मैं तेरे लिए स्थान छोड़ दूँगी।"

रथ आया और स्वप्नश्री बैठी। रथ में रास नहीं थी लेकिन हरिण पालतू थे। हाँकने के लिए हाथ में एक छड़ी दे दी गई। सहसा मृग चौंके। उन्होंने कान खड़े कर चारों ओर गर्दन घुमाई और कूद कर भागे। स्वप्नश्री गिरते गिरते बची, चीख पड़ी और मजबूती से सम्हल कर खड़ी हो गई। श्रीरेखा दौड़ी पर मृग कूदते हुए, रथ को खींचते हुए झाड़ी के पीछे अदृश्य हो गए थे। पास ही कहीं बहुत मधुर स्वर में वीणा बज उठी थी और मृग उसी के स्वरों में बँध कर चले गए थे। श्रीरेखा ने झाड़ियों को चीर कर देखा—कोई वीणा बजाने में तल्लीन है। उसकी सुनहली अलकें हवा में लहरा रही हैं और उसके स्वर वातावरण पर जादू कर रहे हैं। अपने उष्णीष के रंग और कटिवस्त्र के पहनाव से वह कौशाम्बी के समीप का कोई मध्यदेशीय युवक जान पड़ता था। स्वप्नश्री नीचे कूद पड़ी थी किन्तु हरिण उसी ओर भागे जा रहे थे। श्रीरेखा भाग कर स्वप्नश्री के पास गई। स्वप्नश्री बहुत घबरा गई थी। आवेग से उसका चेहरा लाल हो गया था और भ्रू-रेखाओं पर स्वेद-बिंदु छलक आए थे। वह चुप थी, किन्तु श्रीरेखा के पास पहुँचते ही चीख कर उससे लिपट गई और उसके बाद दोनों खिलखिला कर हँस पड़ीं। पथिक का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ किन्तु फिर भी वह उपेक्षा से मुँह फेर कर वीणा बजाने में तल्लीन हो गया।

"यह तो कोई परदेशी है।" स्वप्नश्री बोली।

"कोई भो हो—इसे तो बहुत कड़ा पाठ मिलना चाहिए। ऐसी वीणा बजाई कि तुम मरते मरते बचीं।"

"ओ! तो उस बेचारे को क्या मालूम था।"

"बेचारे को!" श्रीरेखा मुँह बना कर बोलो—"ओहो! बड़ी सहानुभूति होगई तुम्हें। और देखो तो, अभिमानी भी कैसा है। इधर देख कर भी गर्दन फेर ली जैसे···।"

"···जैसे तुम्हारा कोई महत्त्व ही न हो। क्यों?"

श्रीरेखा हँस पड़ी—"जाऊँ, पूछूँ तो कौन है।"

"जा तू, मैं यहीं खड़ी हूँ।"

श्रीरेखा गई और अपरिचित के सम्मुख गम्भीरता से हाथ जोड़ कर चुपचाप खड़ो होगई। उसने सिर उठा कर देखा, रुक गया और पूछा—"कहिए?"

"ओह! आप तो मनुष्य की वाणी बोलते हैं। मैं तो समझी थी आप कोई देवता हैं।" अपरिचित ने विस्मय से इस मुखर लड़की की ओर देखा और फिर कुछ मुसकरा कर बोला–"यह सुखद सन्देह आपको कैसे हुआ कि मैं देवता हूँ?" श्रीरेखा अब भी गम्भीर थी। "बात यह है कि मैंने एक ऐसे देवता के बारे में सुना था जो सदा वीणा बजाते हैं और जब पृथ्वी पर आते हैं तो कुछ न कुछ अनिष्ट अवश्य होता है। दैवयोग से इस समय दोनों ही संयोग हैं।"

वह हँस पड़ा—"आप का परिचय?"

"मैं यहाँ के नगर-सेठ की कन्या श्रीरेखा, और आप?"

"श्रीरेखा! बड़ा चमकीला नाम है; मैं–मैं कौशाम्बी से आया हूँ। मेरा नाम समुद्रगुप्त है।"

"महाराजकुमार युवराज समुद्रगुप्त!" श्रीरेखा आश्चर्य से

चीख उठी। आँचल सम्हाल कर बोली—"धृष्टता के लिए क्षमा करें कुमार।"

"नहीं, नहीं।" राजकुमार फिर हँस पड़े।

"किन्तु आप यहाँ कैसे?"

"मैं मायुलिक कुन्तल के पास एक आवश्यक राजकोय कार्य से आया था, किन्तु वहाँ ज्ञात हुआ कि वे तीर्थाटन के लिए गए हैं और उनकी पुत्री स्वप्नश्री उपवन की ओर आई हुई हैं। अवकाश के क्षण बिताने के लिए मैं रथ लेकर इधर ही चला आया। क्या आप स्वप्नश्री को जानती हैं? उन्हें बुला सकेंगी?"

"हाँ, अभी लाई।"

श्रीरेखा गई और स्वप्नश्री के पास जाकर बोली, "चल, वे तुझे बुला रहे हैं।" "फिर वही शरारत।" स्वप्नश्री चिढ़ कर बोली।

"नहीं, सच वे हैं गुप्तवंश के युवराज समुद्रगुप्त। घर पर गए थे, स्वामिनी को न पाकर तुझे खोजते हुए यहाँ आए हैं।"

"अरे!" स्वप्नश्री चल पड़ी और पास जाकर नम्रता से उन्हें प्रणाम किया।

"अच्छा आप ही हैं स्वप्नश्री। गुप्त साम्राज्य के प्रसिद्ध योद्धा मायुलिक की पुत्री मृगों का रथ भी नहीं हाँक पातीं।"

किन्तु श्रीरेखा ने तुरन्त उत्तर दिया—"वह कल्पना के रथ हाँकने की अभ्यस्त है, मृगों के नहीं।" राजकुमार ने मुसकरा दिया।

"चलिए तो, हम लोग घर चलें।" स्वप्नश्री बोली।

"चलिए, मेरा रथ वह खड़ा है।"

श्रीरेखा ने आगे बढ़ कर रास अपने हाथ में ले ली। कुमार

ने रोका तो बोली, "नहीं, स्वप्नश्री नहीं हूँ मैं। रथ हाँकना आता है मुझे।"

कुमार और स्वप्नश्री पीछे बैठ गए। रथ चल पड़ा। स्वप्नश्री सोच रही थी—आर्यावर्त का यशस्वी सम्राट उसके पास बैठा है। वह समुद्रगुप्त, जिसके यश और शौर्य की कहानियों के झूले में उसकी तरुणाई की शैशव-सुगम उत्सुकता भूल चुकी है। कुमार की भुजा पर बँधे आभूषण का छोर रह रह कर स्वप्नश्री के कपोलों को गुदगुदा जाता था और वह सिहर उठती थी। वह विचारों में मग्न थी और न जाने क्या क्या सोच रही थी। रथ बहुत तेजी से चल रहा था, सहसा जीटँदार पंखोंवाली दो तितलियाँ लड़ते लड़ते उसके मुँह से टकरा गईं और उनके पंखों पर जमी हुई पराग-धूल उसके कपोलों पर छा गई। राजकुमार ने उसे देखा और मुसकरा दिया। स्वप्नश्री सचेत हो गई। उसे यह अकारण मौन अखर रहा था। राजकुमार उसका अतिथि था। उसे कुछ बातें करनी चाहिए। उसने राजकुमार की ओर देखा, वह बाहर देख रहा था।

"आप!" उसने बहुत साहस बटोर कर कहा—"आप श्रावस्ती के वनों में निरस्त्र न घूमा करें। यहाँ कुछ लोग गुप्त-साम्राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र कर रहे हैं।" उसने एक साँस में कहा और लज्जा के कारण हाँफने सी लगी।

राजकुमार ने सिर भीतर किया और पूछा—"क्या कहा आपने?"

"मैंने! मैंने कुछ नहीं। मैं कह रही थी आपको कला से बहुत प्रेम है?"

"हाँ देवि, कला ही मेरा जीवन है।"

"अच्छा, किन्तु मेरा तो जीवन ही कला है।" सहसा श्रीरेखा ने मुड़ कर उत्तर दिया।

"ओह! और आपका क्या मत है इस विषय में?" उसने मुड़कर स्वप्नश्री से पूछा—

"मेरा क्या मत है? कला या जीवन, मेरे लिए तो कोई भी नहीं है। मैं ही कला और जीवन के लिए हूँ। जीवन जब चाहता है मुझे छेड़ कर रुला लेता है; कला जब चाहती है मुझे गुदगुदा कर हँसा लेती है।"

राजकुमार इस अप्रत्याशित उत्तर पर दंग रह गया और कौतूहल से स्वप्नश्री की ओर देखने लगा।

× × × ×

गृहपति के न होने से मातृविहीना स्वप्नश्री पर कुमारके आतिथ्य का भार आ पड़ा था। कुमार विश्राम-कक्ष में थे और पास ही आसन पर बैठी स्वप्नश्री अपने पिता को कुमार के आगमन का सूचना-पत्र लिख रही थी। इतने ही में श्रीरेखा आगई। स्वप्नश्री ने पत्र पूरा कर चन्दनशलाका पर लपेट कर भृत्य को दे दिया और उसके बाद सम्हल कर बैठ गई। श्रीरेखा बोली—

"कुमार की कला की बहुत प्रशंसा सुनी है। सुना है, आपने वादन-कला की नई शैली का आविष्कार किया है।"

"हाँ, देवि! किन्तु वह शैली पुरुषोचित है, ओजस्वी है. उसमें लड़कियों को विशेष रस न मिलेगा।"

श्रीरेखा, सदा वाक्पटुता में दूसरों को हरा देनेवाली श्रीरेखा निरुत्तर हो गई। क्षण भर बाद उसने पूछा—"कुमार नारी की इतनी उपेक्षा क्यों करते हैं?"

"नहीं, मैं नारी को इतना महत्त्व ही नहीं देता कि उसकी उपेक्षा करने का व्यर्थ कष्ट उठाऊँ।"

"महत्त्व नहीं देते ? तो क्या आप नारी को खेल की वस्तु समझते हैं ?"

कुमार उठ बैठे और उत्तरीय को पीछे फेंक कर बोले—"हूँः, मेरे खेलने के लिए बड़ी बड़ी वस्तुएँ हैं। मैं साम्राज्यों के भाग्य से खेल सकता हूँ; नारी जैसे कच्चे खिलौने से मैं नहीं खेलता।"

श्रीरेखा झल्ला उठी। वह अपनी वाक्पटुता के लिए प्रसिद्ध थी और बड़े बड़े मानी युवक उससे हार मान कर गौरव का अनुभव करते थे। किन्तु कुमार उसे बराबर हराते जारहे थे। स्वप्नश्री शान्त थी, किन्तु श्रीरेखा फिर शक्ति बटोर कर बोली—"नारी जीवन में कच्ची हो किन्तु खेल या प्यार में कच्ची नहीं होती। जिस दिन वह खेलने अथवा प्यार करने का निश्चय करती है, उसी दिन उसमें अपूर्व प्रतिभा जाग जाती है।"

"ठीक है, किन्तु जिस दिन पुरुष में प्रतिभा जगती है उस दिन से वह खेलना और प्यार करना दोनों ही बन्द कर देता है।"

श्रीरेखा फिर हारी पर उसे अब जैसे पराजय के हर खेल में एक अपूर्व सुख मिल रहा था। वह अभी तक जीवन से खेलती रही और जीतती रही, आज वह खेल रही थी और हार रही थी। फिर भी मन करता था जैसे हारती जाय। इसीलिए वह फिर बोली—"किन्तु कुछ भी हो, नारी ही प्यार कर सकती है।"

"मानता हूँ श्रीरेखाजी ! नारी ही ईर्षा कर सकती है, नारी ही द्वेष कर सकती है, नारी ही निन्दा कर सकती है, नारी ही अनिष्ट कर सकती है, नारी ही अमंगल कर सकती है और नारी ही प्यार भी कर सकती है।"

श्रीरेखा का चेहरा तमतमा उठा और उसने तीखे स्वर में कहा—"और नारी समय पड़ने पर घृणा भी कर सकती है।"

"हाँ, कर ही नहीं सकती, करती भी है। किन्तु पुरुष उससे डरता नहीं, क्योंकि नारी के प्यार की तरह नारी की घृणा भी क्षणिक और अस्थायी होती है। आपका क्या मत है?" कुमार ने स्वप्नश्री से पूछा।

स्वप्नश्री शान्त थी। सहसा प्रश्न से वह चौंक गई और बोली—"क्या आज्ञा दी आपने?"

"मेरा प्रश्न है कि आपका नारी के विषय में क्या मत है?"

"नारी के विषय में तो नहीं।" स्वप्नश्री ने कहा—"किन्तु आपके मत के विषय में मुझे कुछ अवश्य कहना है।"

"हाँ, हाँ!"

"कुमार, नारी एक सूत्र है· एक गूढ़ सूत्र। जैसे एक सूत्र की व्याख्या में टीकाकार अधिकतर अपनी ही मनःस्थिति और विचारधारा के अनुसार टीका करता है; उसी प्रकार नारी की व्याख्या भी प्रत्येक पुरुष अपने अनुभव और अपनी विचार-शक्ति के अनुसार करता है। मैं विश्वास नहीं करना चाहती कि आपका व्यक्तित्व इस व्याख्या में है। जितनी कठोर और छिछली आपकी व्याख्या है उतना छिछला आपका व्यक्तित्व नहीं। इसलिए आपके श्रीमुख से ये विचार शोभा नहीं देते।" स्वप्नश्री ने शान्त एवं संयत स्वर में कहा और चुप हो गई। कहते समय उसकी आँखों में विचित्र सी चमक झिलमिला उठी और फिर उसने निगाहें झुकालीं; ठीक जैसे समुद्र की एक उत्ताल लहर उठे और क्षितिज पर उगते हुए पीले चन्द्रमा को चूम कर शान्त हो जाय।

कुमार इस रहस्यमय लड़की की ओर आग्रह से देखने लगे। वह बिल्कुल शान्त रहती थी लेकिन जब बोलती थी तब कोई ऐसा सत्य वाणी में बिखेर देती थी जो अन्तर को

मरोड़ देता था। ऐसी ही उसने कही थी कला और जीवन की बात। कुमार चुप हो गए। उनका उच्छृङ्खल स्वभाव न जाने क्यों इस शान्त, लजीली और करुण सपनों में डूबी रहनेवाली लड़की के प्रति स्नेह अनुभव करने लगा। स्वप्नश्री विद्रोह के सामने झुकना जानती थी। वह बाँस की उस कच्ची टहनी के समान थी जो तूफान के हर झोंके के साथ जमीन पर बिछ जाती है। राजकुमार उच्छृङ्खल कलाकार था और नारे को तोड़कर हँसता था। किन्तु आज वह हार गया था। उसने मुसकरा कर अपनी हार स्वीकार की और बोला—"अच्छा तो आज का वादविवाद स्थगित हुआ।"

× × × ×

स्वप्नश्री ने वातायन के पर्दे गिरा दिए और दोनों उठकर बाहर आगई। छत पर चैत की चटख चाँदनी बिछी हुई थी। दोनों एक झूले पर बैठ गईं।

श्रीरेखा बोली—"राजकुमार बहुत प्रतिभाशाली हैं और बहुत वाक्पटु। तुम्हारी क्या राय है?"

"प्रतिभाशाली तो अवश्य हैं कि वाक्पटु नहीं। अन्तर स्वच्छ है और गम्भीर; वाणी कुछ कठोर है किन्तु शरारत से भरी हुई।" "नहीं, वे वाणी के भी कुशल हैं।"

सदा हर एक की आलोचना करनेवाली श्रीरेखा आज जैसे कुमार की प्रशंसा करने पर तुल गई थी। उसके मन में हार की टीस अब भी कसक रही थी। वह चाँद की ओर देखने लगी। पीला चाँद ऐसा लग रहा था जैसे नीली आँखों पर तैरती हुई उदासी। एक हलका रूई का बादल आया और उदासी को छेड़ कर चला गया। वह छेड़छाड़ श्रीरेखा के हृदय में उतर आई और वह न जाने कैसी आकुलता का अनुभव करने लगी।

सहसा स्वप्नश्री बोली—"हाँ श्रीः उस दिन वाला सपना तुझे याद है न ?"

"कौन, वह रातरानी और किरणवाला न।"

"हाँ, मैंने उसे श्लोकबद्ध कर डाला है। ला, तुझे सुनाऊँ।"

श्रीरेखा पास के प्रकोष्ठ से बाँसुरी उठा लाई। अपनी चम्पे की कलियों जैसी लम्बी, पतली उँगलियों से उस पर स्वर साधने लगी और स्वप्नश्री ने तड़पते स्वरों में अपना गीत प्रारम्भ किया। स्वप्नश्री विभोर थी और श्रीरेखा तन्मय। आधे श्लोक के बाद उसने बाँसुरी रख दी और स्वप्नश्री के कन्धे पर सिर रखकर अपलक दृष्टि से उदास चन्द्रमा को देखती रही। स्वप्नश्री ने गाते गाते एक हाथ श्रीरेखा के कन्धे पर रक्खा और उसे अपनी छाती के पास खींच लिया। श्रीरेखा ने अपना सिर स्वप्नश्री के धड़कते हुए वक्ष में छिपा लिया और जब स्वप्नश्री ने स्वर में विचित्र सी टीस भर कर कहा—"रातरानी की पलकों में खोई हुई चाँदनी लपटों की तरह धधक उठी।"—तो श्री रेखा को लगा जैसे कोई उसे चूर चूर कर रहा है और वह लाचार सिसक सिसक कर रो पड़ी। स्वप्नश्री अकस्मात् रुक गई।

"श्री ! क्या हुआ री ! एँ, अरे, तू तो रो रही है !"

स्वप्नश्री ने बड़े दुलार से श्रीरेखा का चिबुक थाम कर मुँह ऊपर उठाया। पलकें गीली थीं और गालों पर दो आँसू फिसल रहे थे।

"पगली !" स्वप्नश्री ने कहा और झुक कर अपने हाथों से उसके गालों पर से दोनों आँसू पोंछ डाले, "क्या बात है ? इधर देख मेरी ओर।"

श्रीरेखा ने स्वप्नश्री की ओर देखा और मुसकरा कर उसकी गोद में मुँह छिपा लिया। स्वप्नश्री उसकी पलकों को उँगलियो

से सुलझाती रही। सहसा श्रीरेखा ने सिर उठाया और गहरी साँस लेकर बोली—"न जाने क्यों, आज का गीत, यह चाँद, तू, सब कुछ इतना करुण, इतना वेदनामय लग रहा है कि प्राण रो उठते हैं!"

"क्यों, तू तो इन सब पर हँस सकती है न?"

"नहीं, कल तक हँस सकती थी, आज सब पर हँस सकने का अभिमान किसी ने तोड़ दिया है। अच्छा! अब चलती हूँ रात अधिक हो रही है।" और श्री रेखा चल दी।

× × × ×

जब ये दोनों चली आईं तो कुमार करवट लेकर लेट गए और राजकीय प्रश्नों पर सोचने लगे कि सहसा रात की नीरवता तोड़कर गीत का स्वर गूँज उठा। उसमें कुछ ऐसी तड़प, ऐसी टीस, ऐसी करुणा थी कि उनका मन अपनी वीणा उठाने के लिए व्याकुल हो उठा। उन्होंने प्रतिहारी से पूछा—"यह कौन गा रहा है?"

"कुमारी स्वप्नश्री।"

"ओह, बहुत सुन्दर गाती हैं!" उन्होंने कहा और शैय्या पर लेट गए। बहुत देर तक सपनों में स्वप्नश्री गाती और उनसे बात करती रही।

× × × ×

श्रीरेखा अपने भवन में पहुँची तो जैसे बेहोश थी। उसके प्राणों पर न जाने कैसी नीरव अचेतनता का सम्मोहन छा गया था। उसकी बड़ी बड़ी पलकें झुकी थीं और उसके कदम डगमगा रहे थे। उसकी नसों की बूँद बूँद में एक गुलाबी नशा छाया हुआ था। वह शयन-कक्ष में गई और गले में पड़े मुक्ताहार को भूमि पर फेंक कर बिना वस्त्र बदले ही शैय्या पर

लेट गई। वातायन के ऊपर संगमरमर में कटी हुई जाली से छन कर आती हुई चन्द्रकिरण ऐसी लग रही थी जैसे अँधेरे के सीने में चुभा हुआ एक नीमकश तीर।

"आह! क्यों ऐसा होता है?" वह बोल उठी—"आखिर क्यों अनजाने में दर्द के तीर आ कर चुभ जाते हैं और फिर क्यों मन चाहता है कि वे तीर हमेशा चुभे रहें। अपने उन्नत अभिमान के टूट जाने का दर्द क्यों इतना प्यारा होता है? क्या मनुष्य उसी को प्यार करता है जिससे वह पहली बार हारता है?"

उसने उठकर वातायन का पट खिसका दिया। हरसिंगार के फूलों की तरह चाँदनी झर पड़ी। "और यह हार भी क्या? शब्दों के खेल की हार? जब जिन्दगी की हार-जीत को खेल समझ कर उसने कभी ध्यान नहीं दिया तब आज खेल की हार-जीत में वह क्यों दिल को गँवा बैठी?" उसने वातायन से झरती हुई चाँदनी की ओर देखा। चाँदनी एक कपासी नागिन की तरह लहरें ले रही थी। "आखिर क्यों यह मेरे अन्तर में आज साँप लहरा रहे हैं? यह कौन सा जहर मोल ले आई हूँ आज? मैं इतनी व्याकुल हूँ और कुमार? क्या वे जाग रहे होंगे? और जाग भी रहे होंगे तो क्या मेरे......।" उसे लगा जैसे पसलियों में हविश का तूफान उमड़ आया। उसने पास से मौलश्री के फूलों की ढेरी उठा कर छाती पर दबा ली। धीरे धीरे उसे नींद आ गई—हलकी शर्बती नींद। मगर उसके मन की प्यास, उसकी नसों का दर्द, उसके सपनों की बेचैनी रात भर करवटें बदलती रही।

जब रात ने करवट बदली तो स्वप्नश्री की आँखें खुल गईं। नीचे आँगन में रातरानी गमक रही थी और वातायन के पास झूमनेवाली बेले की पँखुरियों ने पलकें खोल दी थीं।

वह श्रीरेखा के विषय में सोचने लगी—आज उसे हो क्या गया था ? और वह सहसा क्यों चली गई ? ऐसी आकुल होते उसे कभी न देखा था ।

सहसा वातायन से एक झोंका सौरभ से लद कर आया और उसे झुलसाता हुआ चला गया । वह छत पर चली गई । रात बहुत सुहावनी थी । सहसा वह चीख सी उठी । वह सामने गवाक्ष पर इतनी रात को कौन है । अरे, कुमार ! वह अभी जाग ही रहे हैं ! दो खंभों के बीच में लगी हुई रजत-शलाका पर कुहनियाँ टेक कर चिन्तामग्न मुद्रा में कुमार ऐसे लग रहे थे जैसे किसी सुकोमल टहनी पर गाल रखकर चुपचाप चाँदनी बिताता हुआ एक जवान गुलाब । स्वप्नश्री घूमकर कुमार के पीछे खड़ी हो गई । कुमार ने देखा किन्तु फिर चन्द्रमा की ओर देख कर चुपचाप सोचने लगे ।

"क्या राजकुमार चाँद को देख रहे हैं ?"

"नहीं, देख तो नहीं रहा हूँ, उसकी बोली अवश्य सुन रहा हूँ ।" और घूम कर बोले—" अब देख भी रहा हूँ ।"

स्वप्नश्री हँसी और फिर लजा गई । कुछ क्षणों तक चाँदनी में दमक उठनेवाले अपने अँगूठी के हीरे की ओर झुकी नजरों देखती रही और फिर बिना निगाह उठाए ही पूछा—"कौन सा विचार है जिसने कुमार को इतनी रात तक जगा रखा है ?"

"वह विचार !" कुमार ने एक गहरी साँस ली और टहलने लगे—"क्या तुम सुनोगी ?"

"क्या वह मुझसे सम्बन्धित है ?" उसने एक भोलेपन से पूछा और उसके बाद अपने प्रश्न पर स्वयं ही लजा गई ।

"हाँ है भी, और नहीं भी । तुम जानती हो स्वप्नश्री ! मैं महाराज से विद्रोह करके आया हूँ ।"

"क्यों ?"

"क्यों, इसलिए स्वप्नश्री, कि मैं गुप्तवंश की परम्परा को नई धारा में मोड़ना चाहता हूँ। महाराज अपने आन्तरिक झगड़ों में व्यस्त हैं। मैं आन्तरिक मतभेदों को मिटाकर भारत में वह साम्राज्य स्थापित करना चाहता हूँ जो अडिग हो। मुझे लगता है जैसे मैं भारत की स्वर्ण संस्कृति का अकिंचन हूँ और वह सांस्कृतिक देन दे जाऊँगा जो विश्व में अनूठी होगी। मैं सम्राट-पद को केवल अपना व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानता, मैं उसे राष्ट्र की थाती मानता हूँ और इसीलिए मैं स्वदेशी प्रभावों से अलग रहना चाहता हूँ। पिता से इसी विषय में मेरा विरोध है और मैंने चुनौती दे दी है कि समय आने पर मैं गुप्त साम्राज्य को भी उलटने में न हिचकूँगा।" राजकुमार के नेत्र जल उठे। उनकी मुट्ठियाँ बँध गईं और वेतन कर चलने लगे।

स्वप्नश्री बोली—"श्रावस्ती अपने विद्रोही राजकुमार के साथ होगी, आप विश्वास रखें।"

"श्रावस्ती मेरे साथ होगी किन्तु क्या स्वप्नश्री भी? क्या मैं विश्वास करूँ कि मेरे विद्रोह में, मेरे विध्वंस में, मेरे दुःख में, मेरे कष्टों में, मेरे संग्राम में स्वप्नश्री भी मेरे साथ होगी?"

स्वप्नश्री विचार में पड़ गई और गम्भीर मुद्रा में पास के झूले पर बैठ गई—वही झूला जिस पर श्रीरेखा रोई थी। कुमार उसके पार्श्व में खड़े हो गए।

"क्यों? बोलो! मैं तुमसे सच कहता हूँ मुझे प्रेयसी नहीं चाहिए, प्रणयिनी नहीं चाहिए। यह खेल खेलकर मैं ऊब चुका हूँ। मुझे एक संगिनी चाहिए। एक ऐसी संगिनी, जिसे अपना भावना का राज्य सौंप कर निश्चिन्त होकर मैं विद्रोह में लग जाऊँ। मुझे एक ऐसी आधार-मूर्ति चाहिए जो मेरी शक्ति

बन जाय। बोलो !"

स्वप्नश्री ने दोनों हथेलियों में अपना मुँह छिपा रखा था।

"बोलो न। जानती हो, मैंने आज तक नारी को तोड़ा है; किन्तु तुम थीं जिसमें न जाने कौन सी शान थी, न जाने कौन सी गहराई थी, सतर्कता थी, सन्तुलन था कि मेरी उच्छृंखलता हार बैठी। और मेरी दिवास्वप्न ! तुम नहीं जानतीं कि मनुष्य उसी को प्यार करता है जिससे वह पहली बार हारता है। हाँ, यह अवश्यक है कि मैं तुमको राजमहलों का सुख न दे पाऊँगा। मुझे तो अभी देश के इस छोर से उस छोर तक सोई हुई चेतना जगानी है। मेरे साथ रहकर तुम्हें गुलाब की पँखु-रियों पर नहीं, विद्रोह के अंगारों पर चलना होगा। बोलो ! मैं तुम्हारे मौन से क्या समझूँ ? हाँ ?...नहीं ?...तो क्या समझूँ कि इन कष्टों का लेखा सुनकर स्वप्नश्री पीछे हट गई ?"

"नहीं।" स्वप्नश्री ने क्षीण स्वर में उत्तर दिया—"कष्टों से मैं नहीं डरती। वे मेरे जन्म के साथी हैं। यह बात नहीं है कुमार, किन्तु..."

"किन्तु क्या ?"

"कुछ नहीं !" वह सहसा विह्वल होकर बोली—"इस समय मैं कुछ नहीं कह सकती कुमार—इस समय मुझे जाने दीजिए..." और स्वप्नश्री उठकर धीरे धीरे अपने शयन-कक्ष में चली गई।

× × × ×

प्रातःकाल ही श्रीरेखा ने रथ जोता और स्वप्नश्री के यहाँ चल दी। उसे लग रहा था जैसे वह एक क्षण भी कुमार के बिना नहीं रह सकती है। उसके मन में एक तीखी कामना थी, कुमार के चारों ओर किरण-रेखा बन जाने की।

भवन में पहुँचे पर ज्ञात हुआ कि स्वप्नश्री कहीं गई है।

"और कुमार ?" उसने पूछा।

"अभी अभी राजधानी से एक दूत आया है, कोई गुप्त सन्देश लेकर; राजकुमार उसी से मंत्रणा कर रहे हैं।"

श्रीरेखा रुक गई। इतने में दूत ऊपर से आया।

"दासी! इन्हें अतिथिगृह में ले जाओ।" कह कर श्रीरेखा कुमार के पास चल दी। जाते समय उसका हृदय धड़कने लगा और उसके कदम रुकने से लगे। अंग अंग में एक विचित्र सी पुलक छा गई और प्राणों में गुदगुदी भी मचने लगी। वह कक्ष के समीप पहुँची और झाँक कर देखा—कुमार अचेत पड़े हैं। वह घबरा गई। "कुमार! कुमार!" वह दौड़कर अन्दर गई। देखा—कुमार की बाँह से रक्त बह रहा है और एक तीर वातायन की राह से आकर उनकी भुजा को छीलता हुआ पास के चन्दन-स्तम्भ में चुभ गया है। कुमार मूर्छित हैं और पास ही एक पत्र खुला हुआ पड़ा है। उसने जल्दी से पत्र उठाया। वह राजदूत का लाया हुआ पत्र था और उस पर लिखा था—'त्रयोदशी को महाराज का अवसान हो गया। प्रजा ने आपको महाराजा चुना है। सावधान, बौद्ध विहारों में आपकी हत्या के आयोजन हो रहे हैं—महामंत्री।'

श्रीरेखा क्षण भर के लिए स्तब्ध हो गई। अखिल आर्यावर्त का सम्राट उसके सामने अचेत, असहाय पड़ा है। फिर उसने झपट कर बाँह का घाव देखा। थोड़ा सा छिल गया था, लेकिन घाव के आसपास नीलिमा थी। "ओह! विषैला तीर है। क्या करूँ?" और फिर सहसा झुककर उसने वह घाव चूस लिया। विष थूक दिया और उसके बाद निश्चिन्तता से खड़ी हो गई। उसके ओठ जल रहे थे। उसने पास के पात्र में

से जल पिया। "कुमार !" उसने माधुर्य से पुकारा, किन्तु कुमार अचेत थे। उनकी सुनहली अलकें भाल पर और पलकों पर लहरा रही थीं। उसने एक हाथ से वे अलकें हटा दीं और क्षण भर अपलक दृष्टि से उन्हें देखती रही। "मेरे देवता !" रुँधे हुए गले से उसने कहा और झुक कर पलकें चूम लीं। सहसा एक किरण उसे इस तरह तोड़ गई जैसे कि सूरज की किरण चूर चूर हो जाती है।

"दासी !" उसने पुकारा—"गुलाबजल ले आ।"

उसने एक वस्त्र गुलाबजल में भिगोकर महाराज की आँखों पर रख दिया और आँचल डुबो कर महाराज का मस्तक भिगोने लगी। क्षण भर में महाराज को होश हो गया।

"उफ ! बेहद जलन है आँखों में।"

"पट्टी रखी रहने दें महाराज !"

"कौन ? तुम ! रहने दो स्वप्नश्री !" महाराज ने टटोल कर उसका हाथ अपने भाल से हटा दिया। श्रीरेखा संकोच में गड़ गई। वह कुछ कहना चाहती थी। यह अवसर था, जब वह लाज की डोरी में बँधी अपने दिल की धड़कनों को मुक्त कर देना चाहती थी, लेकिन जब हृदय कुछ कहने के लिए तड़प उठता है तब वाणी मौन साध लेती है।

"स्वप्नश्री !" महाराज एक गहरी साँस लेकर बोले—"स्वप्नश्री ! कल तक मैं विद्रोही था, आज मैं सम्राट हूँ। कल अपने दुःख में मैंने तुमसे भीख माँगी थी, आज अपने दुःख में तुम्हें आमंत्रित करता हूँ मेरी रानी !" और महाराज ने श्रीरेखा की हथेली अपने ओठों पर रख ली।

श्रीरेखा लपटों में झुलस गई। तो यह बात है। महाराज स्वप्नश्री को अपना घर दे चुके हैं। कौन है वह ? क्या अधि-

कार है उसे किसी दूसरे के मन्दिर में पूजा करने का। जिसके चरणों में वह सर्वस्व समर्पित करने आई है, वह किसी दूसरे का हो चुका है। उसकी पलकें छलछला आईं और उसने अपना हाथ धीरे से खींच लिया।

"स्वप्न ! मेरी स्वप्न ! अब भी तुम मेरे प्रश्न का उत्तर न दोगी ?" महाराज ने अस्फुट स्वर में पूछा। "मेरे मन में एक निर्माण का सपना है। मैं सुंदरी को अपने निर्माण में गूँथ देना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ तुम मुझे बनाओ, मैं अपने राष्ट्र को बनाऊँ। बोलो—मेरी पलकें जल रही हैं स्वप्नश्री !"

"महाराज अभी विश्राम करें।" उसने किसी तरह सिसकियाँ रोक कर कहा और जल्दी से कक्ष के बाहर निकल आई और फूट-फूट कर रो पड़ी। वह जीवन में प्रथम बार प्राणों की सारी आकुलता समेट कर पूजा के लिए चली थी। वह पूजा कर लेती, फिर चाहे उसे देवता से वरदान नहीं अभिशाप ही मिलता। किन्तु उसे तो मन्दिर में प्रवेश करने का अवसर ही न मिल पाया। सोपान तक पहुँचने के पहले ही देवता ने पट बन्द कर लिए। यह असफलता न थी, अपमान था; पूजा की विफलता न थी, पूजा की हत्या थी। वह रथ पर बैठ गई और घोड़ों को बेतहाशा छोड़ दिया। वह उस समय पागल हो रही थी।

× × × ×

"देवी स्वप्नश्री बहुत देर से आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।" भवन में पहुँचते ही दासी ने सूचना दी। श्रीरेखा की विचारधारा को झटका लगा। वह खड़ी हो गई। "नहीं, अब रोऊँगी नहीं। हँसूँगी, अपने लिए नहीं, स्वप्नश्री के लिए।" और वह मुसकराने का यत्न करते हुए अपने कक्ष में गई।

"अरे ! तेरी आँखें क्यों सूज आई हैं ?"

"बहुत दिनों से जागी हूँ न !" उसने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा—"अब सोने जा रही हूँ।"

"सोने जा रही है ! तेरी सब बातें निराली होती हैं। अब जब सबने अँगड़ाई ली है तो तेरी आँखों में नशा झलका है। मगर मैं तुझे बहुत कुछ बताने आई हूँ।"

"मुझे मालूम है पहले से।" वह उठी और स्वप्नश्री के पीछे खड़ी होकर दोनों हाथों से उसके गालों को थपथपाते हुए झुक कर कान में बोली, "आर्यावर्त की महारानी को बधाई देती हूँ।"

स्वप्नश्री चौंक गई—"अच्छा ! तुझे मालूम है। नहीं, श्री ! मैं उस प्रस्ताव को अस्वीकार करने जा रही हूँ !"

"क्यों ?" श्रीरेखा के हृदय की धड़कन एकाएक रुक गई।

"क्यों, इसलिए कि मैं विद्रोह में कुमार का आमरण साथ दूँगी मगर उसके बदले सिंहासन स्वीकार करूँ, यह मुझसे न होगा।"

"कहाँ का विद्रोह पगली ? महाराज की मृत्यु हो गई है और प्रजा ने कुमार समुद्रगुप्त को अपना सम्राट चुना है।"

"सच !" स्वप्नश्री आश्चर्य से चीख पड़ी।

"हाँ, सच और अभी कुमार की हत्या का षड्यन्त्र विफल हो चुका है।"

"हत्या !" स्वप्न सहम गई। "मैं जाती हूँ। वे सकुशल तो हैं ?"

"हाँ, वे विश्राम कर रहे हैं, तू जल्दी जा। लेकिन तू प्रस्ताव स्वीकार कर लेगी न ?"

"नहीं।" उसने तन कर उत्तर दिया।

"क्यों ? सच बता स्वप्न, तू महाराज से प्यार नहीं करती ?"

"क्यों नहीं श्री ? तुझसे कुछ नहीं छिपाऊँगी। मैंने अपने जीवन में कुमार को, केवल कुमार को ही प्यार किया है। उन्हीं की एकान्त पूजा की है और इसीलिए कोई भी वरदान स्वीकार कर अपनी पूजा को मुरझाने देने का साहस नहीं होता। जिससे अटूट प्यार होता है श्री, उससे कुछ भी लेने की इच्छा नहीं होती।"

"नहीं, यह बात नहीं है स्वप्न ! तू नहीं समझती। कुमार जैसा उच्छृंखल युवक पहले तो प्यार की सत्ता से ही इनकार कर देता है, किन्तु जब वह नास्ति से अस्ति पर आता है तब प्यार नहीं पूजा करने लगता है। तू उनकी प्रेयसी नहीं, उपास्य बन चुकी है। तुझे अब वरदान लेना नहीं, देना है। तू उनके विद्रोह की शक्ति बनने के लिए तैयार थी, अब तू उनके निर्माण की कल्पना बनेगी। समझी न !"

स्वप्नश्री क्षण भर खड़ी सोचती रही, फिर एक स्वीकृति की मुसकान मुसकरा कर चल पड़ी। श्रीरेखा उसे जाते हुए देखती रही और बोली—"राष्ट्र को सम्राट की आवश्यकता है। सम्राट को स्वप्नश्री की आवश्यकता है। अगर अनावश्यक हूँ तो केवल मैं—मेरी आवश्यकता किसी को नहीं।" और वह अट्टहास कर उठी। सहसा उसकी पसलियाँ जल उठीं। यह क्या ? कुछ विष अन्दर ही रह गया शायद ! उसने सोचा और खुशी से नाच उठी।

जब स्वप्नश्री भवन में प्रविष्ट हुई तो महराज स्वस्थ हो चुके थे। वे बैठे कुछ लिख रहे थे। स्वप्नश्री को आते देख कर उठ गए। स्वप्नश्री ने आनन्द विह्वल स्वर में कहा—"सम्राट को बधाई !"

"किन्तु क्या तुम्हें साम्राज्ञी कहने का अधिकार है ?"

सम्राट ने उसकी पलकों में पलकें डालकर पूछा। स्वप्नश्री लजा गई और फिर झुक कर उसने सम्राट के चरणों की धूलि अपने मस्तक पर लगा ली। महाराज हर्ष से स्तब्ध हो गए—"स्वप्न-श्री!......मेरी स्वप्न......"

"कुमारी! कुमारी!" अस्तव्यस्त स्वर में श्रीरेखा की दासी ने आकर पुकारा। "क्या है री?"

"श्रीरेखा बहुत अस्वस्थ हैं।"

"ओ, अभी तो मैं आ ही रही हूँ!" वह चल कर रथ पर बैठी, महाराज भी बैठ गए।

जब वे वहाँ पहुँचे तो कक्ष में श्रीरेखा का शव रखा था। स्वप्नश्री अचेत हो गई। महाराज ने उसे सम्हाला और श्रीरेखा के शव को देख कर बोले—"मृत्यु विष से हुई है। इसने विष क्यों खाया स्वप्न?"

"मालूम नहीं! किन्तु कल से यह उद्विग्न बहुत थी।" स्वप्नश्री ने सिसकियाँ रोक कर उत्तर दिया।

"क्या यह किसी को प्यार करती थी?"

"नहीं, ऐसा होता तो यह मुझसे बताती। यह मुझसे कुछ भी न छिपाती थी।"

"नहीं, यह अवश्य किसी को प्यार करती थी। देखो न भौंह में भी कितना आकर्षण बढ़ गया है। कहते हैं, प्रणय की भौंह जहरीली हो किन्तु सुन्दर बहुत होती है। बहुत अच्छी लड़की थी बेचारी। जिसने इस सुकुमार फूल को इस बेदर्दी से मसल दिया वह कितना निष्ठुर होगा, कितना निर्मम होगा।" महा-राज ने एक गहरी साँस लेकर कहा और शव को फिर चादर से ढँक दिया।